डॉ० ओमप्रकाश

का

आलोचनात्मक साहित्य

# हिन्दी-काव्य और उसका सौन्दर्य

लेखक
ओम्प्रकाश
एम. ए पी एच डी
अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग
हंसराज कॉलेज, दिल्ली

१९५७
भारती साहित्य मन्दिर
फव्वारा, दिल्ली

सहधर्मिणी
कैलाश
को

# भूमिका

कलागत सौन्दर्य का विवेचन भारतीय का[illegible] से नहीं हुआ। काव्य-रस या रमणीयार्थ बोध का उल्लेख करते हुए काव्य-सौन्दर्य और उसके उपकरणों की आनुषंगिक चर्चा अवश्य मिलती है किन्तु वह समस्त चर्चा सौन्दर्य शब्द की अर्वाचीन व्याख्या से बहुत कुछ भिन्न है। आधुनिक युग के काव्यालोचन में सौन्दर्य को काव्य का जीवित मानकर उसका वैज्ञानिक पद्धति से गम्भीर विवेचन-विश्लेषण प्रारम्भ हो गया है। इस विवेचन का आधार अधिकांश में पाश्चात्य काव्यालोचन के सिद्धान्त हैं जो अफलातूं और अरस्तू से लेकर क्रोचे तक विविध रूपों में विकसित होते रहे हैं। अफलातूं ने 'दि ट्रू, दि गुड एंड दि ब्यूटिफुल' के रूप में जिस 'ब्यूटिफुल' का संकेत किया था वह सुन्दर की भूमिका में सामने आया और उसके बाह्य एवं आभ्यन्तर स्वरूप का आख्यान प्रारम्भ हुआ। ईसा की उन्नीसवीं शती के अन्तिम चरण में 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' के रूप में जो सिद्धान्त-वाक्य बंगला भाषा से हिन्दी में आया वह भी कदाचित् पाश्चात्य मीमांसकों की विचारधारा से ही नहीं वरन् शब्दावली से भी प्रभावित था। फलतः सौन्दर्य के स्वरूप-चिन्तन के साथ समीक्षा का क्षेत्र भी उसी धारणा के आलोक में विकसित होना प्रारम्भ हो गया।

संस्कृत काव्यशास्त्र में वक्रोक्तिकार कुन्तक और पण्डितराज जगन्नाथ ने अपने काव्य-लक्षणों में रमणीय तत्त्व का समावेश करके सौन्दर्य के प्रति अपनी आस्था व्यक्त की है। कुन्तक ने 'वक्रसौन्दर्यसम्पदा' कहकर वाक्यविन्यास में ही सौन्दर्य स्वीकार कर उसे काव्य संज्ञा देने का साहस किया है। पण्डितराज जगन्नाथ ने 'रमणीयार्थ प्रतिपादक' शब्द को काव्य सिद्ध करते हुए सौन्दर्य को रमणीय के भीतर समाविष्ट करने का चातुर्य प्रदर्शित किया है। किन्तु ये दोनों शब्द 'सौन्दर्य' की अर्वाचीन व्याख्या के न तो समकक्ष हैं और न सर्वथा उस व्यापक परिधि को घेरकर सौन्दर्य का चित्र प्रस्तुत करने में समर्थ हैं। कुन्तक ने 'वक्र सौन्दर्य सम्पदा' के अन्तरंग और बहिरंग नामक दो भेद करके उसे व्यापक अवश्य बनाया है। अन्तरंग धर्म में सौभाग्य और बहिरंग में लावण्य धर्म की प्रतिष्ठा सौन्दर्य की ओर ही इंगित करनेवाली है किन्तु लावण्य का विवरण आधुनिक सौन्दर्य शब्द को सर्वतोभावेन समाविष्ट नहीं करता।

काव्य-सौन्दर्य की चर्चा के प्रसंग में रस या रमणीयार्थ की चिन्ता ही भारतीय साहित्य-साधना का प्रमुख आधार रहा है। अन्तर्मुखी चेतना के कारण भारतीय मनीषा में आभ्यन्तर रस-प्रतीति को ही प्रमुख स्थान प्राप्त होता रहा, सौन्दर्य को अलंकरण या बाह्य उपकरण मानकर काव्य-सर्वस्व के रूप में उसका वैसा वर्णन नहीं हुआ जैसा बहिर्मुखी चेतनाप्रधान पाश्चात्य देशों में हुआ। हमारे यहाँ काव्य के प्राण, रस या ध्वनि की व्याख्या पर ही विशेष ध्यान रहा, उसी में चिरन्तन सौन्दर्य की चिन्ता की गई

और उसी के विस्तार में अनुषंग रूप से बाह्य सौन्दर्य के उपकरणों का उल्लेख होता रहा।

सौन्दर्य शब्द का जैसा व्यापक प्रयोग आधुनिक युग में साहित्यशास्त्र में दृष्टिगत हो रहा है उसकी सीमाएँ निर्धारण करना कठिन है। सुन्दर वस्तुओं के साक्षात्कार से हृदय में जिस आह्लाद की अनुपम सृष्टि होती है वह शब्दों के माध्यम से व्यक्त होकर ही काव्य अभिधान प्राप्त करता है। इसी सौन्दर्यानुभूति से उत्पन्न आनन्द को काव्य में रस कहा जाता है। सुन्दर भाव या वस्तु आनन्दप्रद होने के कारण हमारी चेतन सत्ता का अंश बनकर हमारी कल्पना को उर्वर और स्मृति को उल्लसित करने में सहायक होते हैं। जब हम शब्दों द्वारा सौन्दर्यानुभूति का अंकन करने लगते हैं तभी अभिव्यंजनात्मक सौन्दर्य का एक रूप हमारे सामने आ जाता है। जर्मन दार्शनिक हीगेल ने शब्द को हमारी आत्मा के सबसे निकट ठहराया है। शब्द ही साहित्य है यह कहना भी एक सीमा तक अनुचित नहीं है, यह कथन अति व्याप्त हो सकता है, किन्तु अव्याप्त कथन इसे नहीं माना जा सकता। अतः साहित्यिक सौन्दर्य के पारखी को शब्द से ही अपनी जिज्ञासा प्रारम्भ करनी होती है।

सौन्दर्य के वस्तुगत या व्यक्तिगत होने की बात भी सौन्दर्य-विश्लेषण के प्रसंग में प्रायः उठती है किन्तु प्रस्तुत सदर्भ में मैं उस प्रश्न के विवाद में नहीं जाना चाहता। जिस ग्रन्थ के सम्बन्ध में मुझे अपने विचार व्यक्त करने हैं उसका साक्षात् सम्बन्ध काव्य-सौन्दर्य की चरम सत्ता है, उसके स्वरूप की मीमांसा करना न तो ग्रन्थकार का उद्देश्य है और न उनकी सीमा मर्यादा ही में वह आता है। हमारी सौन्दर्यानुभूति, काव्य के प्रसंग में, किसी पार्थिव पदार्थ तक सीमित नहीं रहती, वह शब्दार्थ के माध्यम से भाव-जगत् की निधि बनकर हमें सौन्दर्य के पूर्ण विकसित रूप का दर्शन कराना चाहती है। अतः सौन्दर्य के प्रकृत प्रसंग में हम काव्य-सौष्ठव के विधायक अप्रस्तुत तत्वों पर ही विचार करना समीचीन समझते हैं।

जैसा कि मैंने पहले कहा है कि काव्य में सौन्दर्य विधायक तत्वों की छानबीन करते हुए प्राचीनों ने रस और रमणीयत्व के बाद जिस उपकरण को सर्वाधिक उपादेयता स्थापित की वह अप्रस्तुत योजना या अलंकार है। 'हिन्दी काव्य और उसका सौन्दर्य' ग्रन्थ में इसी अप्रस्तुत काव्य-सौन्दर्य का गवेषणात्मक अध्ययन उपस्थित किया गया है। लेखक के मत में काव्य की आत्मा तो उसकी भाववस्तु ही है किन्तु काव्य-परिच्छद का भी अपना स्थान है और जब तक उसका यथावत् मूल्याङ्कन न किया जाय, काव्य-सौन्दर्य को ठीक-ठीक हृदयंगम करना सम्भव नहीं। अतः काव्य-सौन्दर्य का विश्लेषण करते समय उसके बाह्यरूप की किसी भी तरह उपेक्षा सम्भव नहीं है।

काव्य में सौन्दर्य का सधान करते समय जब केवल अप्रस्तुत योजना पर ही ध्यान दिया जाता है तब वर्ण्य-वस्तु और वर्णन-प्रणाली दोनों के पार्थक्य की बात .. सामने उपस्थित होती है। वर्णन-शैली और वर्णन-सामग्री को केशव ने क्रमशः [illegible] और सामान्यालंकार नाम से व्यवहृत किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक [illegible]न-सामग्री तक ही अपने अध्ययन को सीमित करके अभिव्यंजना शैली के सिद्धान्त

पक्ष को छोड़ दिया है। वर्णन-शैली और वर्णन-सामग्री में सापेक्षिक महत्व की स्वीकृति निश्चित रूप से स्थिर नहीं की जा सकती किन्तु इन दोनों का व्यतिरेक्य ही इस बात का निदर्शन है कि काव्य-मीमांसा में दोनों का अपना विशिष्ट स्थान है और इनमें से किसी भी एक का अध्ययन काव्य-सौन्दर्य को उद्घाटित करने में बड़ा उपयोगी सिद्ध होगा। लेखक ने वर्णन-सामग्री का अध्ययन करने में एक तर्क दिया है, उनका मत है कि 'वर्णन-सामग्री का अध्ययन जितना वैचित्र्यपूर्ण और सूचनात्मक होगा उतना वर्णन-शैली का नहीं, क्योंकि यह सैद्धान्तिक तथा अमूर्त है।" लेखक के तर्क में शक्ति है क्योंकि वह मूर्त ज्ञान का पोषक है किन्तु यह तर्क शैली के चमत्कार-जन्य मोहक आकर्षण को आच्छन्न नहीं कर सकता। शैली में भी वैविध्य और वैचित्र्य के लिए पूरा अवकाश रहता है अत. वैचित्र्याभाव के आरोप से उसे दबाया नहीं जा सकता। वर्णन-सामग्री में मानव पक्ष की प्रधानता तथा देश-काल की सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अध्ययन में सहायक होने के कारण उसका अनुशीलन अधिक व्यापक फलक पर सम्भव होता है। लेखक ने काव्य-सौन्दर्य के वर्णन-सामग्री पक्ष को चयन करते समय कदाचित् इसी आशय को अपने सामने रखा है। प्रस्तुत अध्ययन में वीरगाथाकाल से रीतिकालीन काव्य परम्परा तक की काव्य-सौन्दर्य विधायक वर्णन-सामग्री का पर्यालोचन किया गया है। प्रत्येक काल की परिस्थितियों का चित्रण करने के बाद, काल विशेष की सामूहिक चेतना के प्रेरक तत्वों पर विचार किया गया है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक काल के प्रतिनिधि कवियों की भावधारा का अवगाहन वर्णन-सामग्री के आधार पर सर्वथा नूतन शैली से हुआ है। केवल नूतन होने से ही कोई वस्तु ग्राह्य नहीं होती, उसकी गुणवत्ता का मापदंड मौलिकता के साथ उपयोगिता भी है। कहना न होगा कि इस कसौटी पर यह प्रबंध पूर्णरूपेण खरा उतरता है। अपने कथन की पुष्टि में प्रबंध से कतिपय प्रासंगिक अवतरणों को उदाहृत करना मैं आवश्यक समझता हूँ।

"हिन्दी काव्य और उसका सौन्दर्य" ग्रन्थ में लेखक ने वीरगाथाकाल से रीतिकाल तक के काव्य की वर्णन-सामग्री का अध्ययन प्रस्तुत किया है। वीरगाथाकालीन काव्य में नारी का चित्रण जिस रूप में हुआ है उसका वर्णन करते हुए लेखक ने उसके दो रूप स्थिर किए हैं; एक वीर माता का और दूसरी वीर पत्नी का। इन दोनों रूपों का बोध वर्णन-सामग्री के आधार पर किस प्रकार सम्भव है और वर्णन-सामग्री के अन्तराल में ये रूप कहाँ छिपे हुए हैं यही इस अध्ययन की विशेषता और मौलिकता है। इसी प्रकार वीर-काव्य-परम्परा पर संस्कृत साहित्य का प्रभाव दिखाते हुए लेखक ने वर्णन-सामग्री द्वारा उस प्रभाव को स्थिर करने में अपने अनुशीलन की सार्थकता व्यक्त की है। अप्रस्तुत योजना में अलंकार-प्रयोग पर गहरे उतरकर विचार करने की शैली भी लेखक की प्रतिभा का अच्छा परिचय देती है। सूफी काव्य पर विचार करते समय कथा-परम्परा का प्रारम्भ और उस पर विदेशी प्रभाव की छानबीन वर्णन-सामग्री को ध्यान में रखकर की गई है। सूफी कवियों की वर्णन-सामग्री का आधार विशुद्ध भारतीय न होते हुए भी अलंकार चयन में भारतीयता का

पुट द्रष्टव्य है। लेखक ने इस प्रसंग में वर्णन-शैली पर भी यथास्थान दृष्टिपात किया है। सूफी कवियों में हेतूत्प्रेक्षा और प्रत्यनीक के प्रयोग का चमत्कार स्पष्ट करते हुए उसके आधार पर सूफी कवियों की मनोवृत्ति आँकने का प्रयत्न सर्वथा मौलिक एवं नवीन है।

निर्गुण काव्य की पृष्ठभूमि लेखक ने बड़ी भावुकतापूर्ण शैली से अंकित की है। निर्गुण भक्त कवियों की अप्रस्तुत योजना पर विचार करते हुए जिन उपकरणों का अन्वेषण किया है उनमें से अनेक गहरी सूझ-बूझ के द्योतक हैं। कबीर की वर्णन-सामग्री के आधार पर उनकी मनःस्थिति का अध्ययन कदाचित् पहली बार सामने आया है। नारी की निन्दा करनेवाले कबीर का मन घरेलू जीवन में कितना अनुरक्त था और चक्की-चूल्हे की दुनियाँ उन्हें कितनी भाती थी, यह उनकी वर्णन-सामग्री से भली भाँति आँका जा सकता है। उनकी वर्णन-सामग्री का समस्त सौन्दर्य इस दृश्यमान् जगत् से जुटाई हुई सामग्री में ही दृष्टिगत होता है। उनकी अप्रस्तुत योजना का आधार कल्पना या कवि-परिपाटी न होकर स्थूल जागतिक पदार्थ हैं। "कहीं अनाज फटकने का सूप है तो कहीं सार्वकाल को खाने का घर्षना है; कहीं वर्षा में न जलने वाली गीली लकड़ी है तो कहीं चोरी धायम से जा रही है; कहीं गली-गली में गोरस मारा-मारा फिर रहा है तो कहीं मदिरा बड़े ठाठ से दुकान पर बिक रही है; कहीं तेल की बूंद पानी में फैली हुई है तो कहीं कुएं में ही भांग पड़ी है।" कहने का तात्पर्य यह कि कबीर आदि निर्गुण भक्तों की काव्य-सामग्री के आधार पर उनकी अन्तर्वृत्तियों का और उनके परिवेश का बहुत अच्छा अध्ययन सम्भव है। यदि इस प्रकार के अध्ययन को आधार बनाकर सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियों का अनुशीलन किया जाय तो ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक तथ्यों का चयन सम्भव हो सकता है।

कृष्ण काव्य की वर्णन-सामग्री का अध्ययन लेखक ने विस्तार से [illegible] किया है। कृष्ण काव्य की सामग्री विलक्षण है। भक्त होने पर भी जीवन के भोगों का ऐसा उदार वर्णन इन कवियों के काव्य में मिलता है उतना कदाचित् रीतिकालीन काव्य में भी उपलब्ध नहीं है। कारण स्पष्ट है; शृंगार के उन्नयन की दिशा में कृष्ण भक्त कवियों ने लौकिक-काम और भोग का सर्वथा तिरस्कार नहीं किया वरन् लौकिक शृंगारिक चित्रों को ही उपासना मार्ग में स्वीकार कर अपने इष्टदेव को सब प्रकार की भाव-रचना से अलंकृत भक्तों के मनो-विनोद या भक्त-सुख के लिए अर्पित किया था। अतः उनकी वर्णन-सामग्री भक्ति और शृंगार दोनों कोटि के उपकरणों से ओत प्रोत होने के कारण अधिक समृद्ध बन गई। माधुर्य और प्रेम का वर्णन भी उनकी सामग्री को समन्वित करने वाला सिद्ध हुआ। वैयक्तिक जीवन में भक्त होने पर भी वे अपने इष्टदेव को सब प्रकार के भोग-विलास, वैभव और ऐश्वर्य से मंडित देखने के अभिलाषी थे। इस भक्ति में निर्वेद या वैराग्य भावना का अभाव है अतः उनकी वर्णन सामग्री में इस प्रकार के तत्त्वों का समावेश नहीं हुआ। सूर और मीरा, रसखान और नन्ददास सभी शृंगार और उल्लास की भावपूर्ण योजना करते हैं। उनके

उल्लास, उनकी उत्प्रेरणाएँ, उनके भाव सभी जीवन के हर्षराग के साथ सपुलक होकर जगत् का मानस चित्र प्रस्तुत करने वाले हैं। कृष्ण-भक्ति-काव्य का सौन्दर्य ब्रज के भक्ति सम्प्रदायों के कवियों में जितनी पूर्णता के साथ दृष्टिगत होता है उतना अन्य कवियों में नहीं है। गोस्वामी हितहरिवंश, व्यास, ध्रुवदास, श्रीभट्ट, स्वामी हरिदास, भगवत रसिक, सहचरि सुख, चाचाहितवृन्दावनदास आदि कवियों की वर्णन-सामग्री इतनी समृद्ध है कि उसका अध्ययन भक्ति काव्य के अध्ययन में बड़ा सहायक सिद्ध होगा। लेखक ने प्रसिद्ध कवियों तक अपना अध्ययन सीमित रखा है अत. उपर्युक्त कवियों के काव्य-सौन्दर्य का पर्यवेक्षण नहीं हो सका।

राम काव्य के अध्ययन में तुलसी और केशव को प्रतिनिधि कवि के रूप में स्थान दिया गया है। तुलसी के विशाल साहित्य से विपुल वर्णन-सामग्री एकत्र कर उसका सौन्दर्य सामने लाया गया है। लेखक ने तुलसी के वैविध्य को ध्यान में रखकर सौन्दर्य के जो चित्र चयन किये हैं उनमें मानव और चित्रात्मकता का ही प्राधान्य है। केशवदास के अध्ययन में लेखक ने संस्कृत ग्रन्थों की छाया का आधिक्य प्रदर्शित करके केशव के चमत्कार को एक तरह से समाप्त सा कर दिया है। केशव की प्रायः सभी सुन्दर सूक्तियों के पीछे संस्कृत-छाया का सधान जहाँ एक ओर लेखक के अध्ययन का द्योतक है वहाँ दूसरी ओर केशव की पाण्डित्यपूर्ण अपहरण प्रवृत्ति का भी परिचय देता है। केशव की वर्णन-सामग्री में सामाजिक जीवन की गहरी छाप है। उनकी वर्णन-सामग्री उनके अपने चारों ओर के वातावरण से एकत्र की हुई भोग्य-सामग्री है।

रीतिकालीन काव्य को लेखक ने 'शृंगार काव्य' का अभिधान देकर उसके स्वरूप का आकलन शृंगार की निम्न भावना के आधार पर किया है। इस काल के समस्त काव्य को निर्जीव कह देना भी लेखक की दृष्टि से अनुपयुक्त नहीं है। उनके मत में इस काव्य में शृंगार न होकर शृंगार-रसाभास मात्र है। "प्रेम, प्रीति या स्नेह के नाम पर नग्न कामाचार की लहरें ही इस काव्य का प्राण हैं। कामुकता का यह काव्य क्षणिक जीवन को सुख संचय में बहलाने का जब बार-बार प्रयास करता है तब उस मद्यप का सहसा स्मरण हो आता है जो अपने हताश एवं परवश अस्तित्व को रंगीनी से चमकाकर वास्तविकता को भूलने में प्रयत्नशील हो। × × इस विलासी काव्य में जीवन को आद्यन्त प्रभावित करने की शक्ति नहीं थी इसलिए इसका प्रणयन बिखरे बिखरे बुदबुदों के रूप में ही हुआ।" लेखक ने इस युग के काव्य को अवसादपूर्ण विलास का जर्जर काव्य मानकर ही उसका मूल्यांकन किया है। लेखक की नैतिक भावना इतनी प्रबुद्ध प्रतीत होती है कि वह काव्य-सौन्दर्य विधायक-कला का मूल्यांकन भी नैतिकता के मापदण्ड से ही करना उचित समझता है। तटस्थ कला-समीक्षक के लिए नैतिकता का यह आग्रह कला-समीक्षा में कहाँ तक समीचीन है इसका विश्लेषण न करते हुए मैं इतना ही कहना चाहता हूँ कि लेखक की भावना कुछ भी हो किन्तु उन्होंने अगले पृष्ठों में जिस समृद्ध वर्णन-सामग्री का चयन किया है वह काव्य-सौन्दर्य और कला-समीक्षा दोनों दृष्टियों से अनुपम है। बिहारी की समृद्ध-वर्णन-सामग्री को पढ़कर पाठक विस्मय विमुग्ध हुए बिना नहीं रह सकता। नागर और ग्राम्य चित्रों का जो

चित्र लेखक ने प्रस्तुत किया है यह सर्वथा नूतन है। घनानन्द की वर्णन-सामग्री में भी काव्य-सौन्दर्य और चमत्कार की अनुपम छटा दृष्टिगत होती है।

संक्षेप में, "हिन्दी काव्य और उसका सौन्दर्य" ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय का परिचय देने के बाद मैं इस अध्ययन की उपादेयता के सम्बन्ध में दो शब्द कहकर इस भूमिका को समाप्त करता हूँ। इस ग्रन्थ के निर्माण से विगत छह सौ वर्ष की हिन्दी काव्यधारा के उस पक्ष का बोध होता है जो अप्रस्तुत-योजना अथवा वर्णन-सामग्री द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से अभिव्यक्त हुई है। लेखक ने यद्यपि प्रबन्ध के कलेवर को ध्यान में रखकर केवल प्रतिनिधि कवियों के काव्य-सौन्दर्य पर ही विचार किया है किन्तु इस कारण काव्य-सौन्दर्य की समग्रता में कोई न्यूनता नहीं आई। इसी प्रणाली पर यदि अप्रस्तुत-योजना के पूरक पक्ष—वर्णन-शैली—का भी अध्ययन किया जाय तो हिन्दी काव्य का समस्त सौन्दर्य (कलापक्ष) उद्घाटित हो सकेगा। इस ग्रन्थ को पढ़कर मेरी यह धारणा और अधिक पुष्ट हुई है कि हिन्दी काव्य की वर्णन-सामग्री के आधार पर काव्य-सौन्दर्य का ही बोध नहीं होता वरन् हिन्दी-भाषी प्रदेश की तत्कालीन विविध परिस्थितियों का भी चित्र आकार ग्रहण करता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में लेखक ने जिस सामग्री का गवेषणात्मक अनुशीलन किया है वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म ब्रह्मविचार से लेकर स्थूलतम दैनिक जीवन की मोटी-मोटी घटनाओं और वस्तुओं को मूर्तमन्त करने में समर्थ है। सौन्दर्य का एकपक्ष (वर्णन-सामग्री) जब इतना समृद्ध और परिपुष्ट है तब उसके सभी पक्षों का उद्घाटन तो निश्चय ही सौन्दर्य की निरतिशय वैभव सामग्री सामने लाने में समर्थ होगा।

डा० ओम्प्रकाश ने अलंकारशास्त्र का विवेचनात्मक इतिहास और हिन्दी-काव्य के सौन्दर्य का विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत कर हिन्दी साहित्य-जगत् में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है। वे स्वतन्त्र चिन्तक के रूप में साहित्यिक जगत् में प्रवेश कर रहे हैं। उनकी प्रतिभा में नवोन्मेष की मौलिकता के साथ स्वमत को व्यक्त करने की निर्भीकता है, उनकी शैली में कृतित्व की निपुणता के साथ अध्ययन की गम्भीरता है। हिन्दी-जगत् के समक्ष इस शोध प्रबन्ध को प्रस्तुत करते समय मुझे पूर्ण विश्वास है कि विद्वत्समाज में इस ग्रन्थ को सम्मान प्राप्त होगा और भविष्य में डा० ओम्प्रकाशजी की लेखनी से और भी ग्रन्थरत्न हिन्दी जगत् को उपलब्ध होंगे।

२१-६-५७

—विजयेन्द्र स्नातक
रीडर, हिन्दी-विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय

# अपनी ओर से

[illegible] हूँ कि [illegible] [illegible] विश- [illegible] के लिए स्वीकृत [illegible] के अनुसार [illegible] नाम से अधिकारी [illegible] हूँ।

[illegible] ऐतिहासिक [illegible] पर्याप्त परिवर्तन हो [illegible] स्वरूप ही भिन्न [illegible] लेखक के व्यक्तित्व के [illegible] परिवर्तन हो गया है। साहित्य वस्तुतः उतना [illegible] लेखक के व्यक्तित्व से अनिवार्यतः प्रभावित होती रहती है।

इस कृति में आदि काल से वर्तमान काल तक की आलंकारिक सामग्री का अध्ययन था, इसलिए सन् १९४१ तक इसको 'हिन्दी साहित्य की आलंकारिक प्रवृत्तियाँ' नाम से प्रकाशित करने का मेरा विचार था। (जिसका संकेत 'आलोचना की ओर', प्रथम संस्करण, पृष्ठ १४, फुटनोट में दिया गया था)। पीछे यह सोचकर कि 'आलंकारिक सामग्री' और 'आलंकारिक प्रवृत्तियाँ' पदों से अधिकतर पाठक 'अलंकार-शैली' का अर्थ लेकर यह समझ बैठते हैं कि इस कृति में भिन्न-भिन्न कवियों द्वारा प्रयुक्त अलंकार छाँटे गये होंगे, मैंने प्रकाशन से कुछ दिन पूर्व इस पुस्तक को नया नाम दे दिया है। प्रस्तुत रूप में इसका क्षेत्र 'वीर-काव्य' से 'शृंगार-काव्य' तक ही है, आधुनिक काव्य पर किसी विश्वविद्यालय में स्वतन्त्र अनुसन्धान हो रहा है उसके स्वीकृत और प्रकाशित होने पर प्रस्तुत प्रयत्न आद्यन्त पूर्ण हो जायगा।

यह स्वीकार करते हुए कि साहित्य कवि और समाज के समानान्तर रूप का प्रतिबिम्ब है, इस ग्रन्थ में मेरा प्रयत्न कवियों के व्यक्तित्व के सूक्ष्म अनुशीलन का रहा है, और मैंने स्पष्टतर स्थूल प्रस्तुत सूत्रों का अनुगमन न करके कवि के व्यक्तित्व को समझने के लिए सूक्ष्म एवं धूमिल अप्रस्तुत योजना का सहारा लिया है। कवि के अनन्त अवचेतन में परिस्थिति की प्रतिच्छाया बनकर जो नीहार-राशि व्याप्त रहती है वह असोकसामान्य होने के कारण चर्म-चक्षुओं से ग्राह्य न हो सके, परन्तु सहृदयों की भावन-प्रक्रिया के लिए वह अस्पृश्य नहीं है। निर्भय होकर राज-पथ पर कवि के साथ विचरण करने के कारण समाज में ख्याति प्राप्त करनेवाले

विचार-वृन्द ही कवि के परिजन नहीं हैं, प्रत्युत अन्तःस्थल में निगूढ़ होने पर भी समस्त क्रिया-कलाप को प्रभावित करने वाले प्रच्छन्न भाव-बन्धु भी कवि के उतने ही या उनसे भी अधिक निकट सहचर हैं। अतः जब मेरे मन में कवि के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न हुई तो मैं अवचेतन-प्रासाद के उन प्रच्छन्न अतिथियों के पास गया और उनको ख्यात परिजनों से मैंने अधिक प्रामाणिक माना; कहीं-कहीं ख्यात परिजनों से भी मैंने बातचीत की और अपने मन की तुष्टि के अनुकूल दोनों के कथनों में से सार चुन लिया। मुझे अपने उद्देश्य में कितनी सफलता मिल सकी है, यह स्वयं मैं भी नहीं जानता। परन्तु मुझे सन्तोष इस बात का है कि जो भावना मेरे मन में चिरकाल से बैठी हुई थी उसको आज कार्यपरा देख रहा हूँ और मुझे विश्वास है कि जिस कार्य को मैंने आज उठाया है वह भविष्य में अधिकाधिक मनीषियों को आकृष्ट करेगा और साहित्य में आलोचना को एक नवीन गति प्रदान करेगा।

बन्धुवर डॉ० विजयेन्द्र स्नातक, एम० ए०, पी-एच० डी०, ने अपने व्यक्तिगत कार्यों में अत्यधिक व्यस्त रहते हुए भी इस पुस्तक को आद्यन्त पढ़कर इस पर भूमिका लिखना स्वीकार किया, यह उनके स्नेह का द्योतक है। पुस्तक के पुनर्लेखन, शुद्धीकरण, प्रतिलिपि आदि में अग्रज डॉ० जयदेव, एम० ए०, पी-एच० डी० तथा चि० प्रवीण कुमार नागर बी० ए० (आनर्स) ने अनेकशः हाथ बँटाया है। मैं इन स्नेहियों का हृदय से कृतज्ञ हूँ।

२१-५-५७ ओम्प्रकाश

विषय-सूची

# : १ :

# विषय-प्रवेश

## शब्दोत्पत्ति

पत्थर के एक टुकड़े को हाथ में लेकर जब मैं लकड़ी के तख्ते पर फेंकता हूँ तो मेरी शक्ति पत्थर के माध्यम से लकड़ी को व्यस्त करती हुई ध्वनि का रूप धारण कर लेती है; यदि पत्थर के इस टुकड़े को लोहे के खड पर फेंका जाय तो लोहे को व्यस्त करती हुई मेरी शक्ति संभवतः ध्वनि तथा अग्नि दो रूपों में प्रकट हो; इसी प्रकार भिन्न-भिन्न वस्तुओं को व्यस्त करके मेरी शक्ति ध्वनि, अग्नि, प्रकाश, विद्युत् तथा चुम्बक इन पाँच रूपों में से एक या अधिक रूपों में व्यक्त होगी। शक्ति के इन पाँच रूपों में से 'ध्वनि' सर्वाधिक ग्राह्य है, और माध्यम तथा वस्तु की व्यक्तिगत विशेषताएँ शक्ति के इस रूप को जितना प्रभावित करती हैं उतना दूसरों को नहीं। सत्य तो यह है कि शक्ति का यह ध्वनि-रूप सघर्षित वस्तुओं (माध्यम तथा प्रताड़ित वस्तु) के आकार, रूप, आयु तथा दशा के अनुसार परिवर्तित होता रहता है। यही कारण है कि अपने कमरे की किवाड़ों और साँकल की ध्वनि सब पहिचान लेते हैं, सड़क के एक किनारे पर खड़े होकर सुननेवाले अभ्यस्त लोग यह जान जाते हैं कि दूसरे कोने से आने वाली 'बस' किस मॉडल की है और कितनी पुरानी है, बाइसिकिल की घंटी और मोटर का हॉर्न यह बतला देते हैं कि आगन्तुक परिचित है या अपरिचित, और यदि परिचित है तो राम है या श्याम।

अचेतन वस्तु में ध्वन्युत्पत्ति बाह्य शक्ति-सयोग से ही सम्भव है, परन्तु चेतन में इसकी अपेक्षा नहीं, वातावरण-विशेष की परिस्थिति भी पशुओं तथा पक्षियों के हृदय में अभिव्यक्ति की आकुलता उत्पन्न कर देती है, और 'ध्वनि' के स्थान पर 'शब्द' को जन्म देती है। मानवेतर जीव आत्माभिव्यक्ति में जिस 'शब्द' का प्रयोग करते हैं, वह उनके 'भाव' का वाहक है, 'विचार' का नहीं, क्योंकि मानवेतर जीवों का व्यक्तित्व रागात्मक तत्वों से निर्मित है, बुद्धि-विकास का परिणाम नहीं; यह अभिव्यक्ति वैविध्य में सीमित परन्तु बल में असीम है। जीवों की यह शब्दात्मक अभिव्यक्ति जीवन में नित्यशः दृष्टिगत होती है। ऊषा की सूचना से ही ताम्रचूड प्रसन्न होकर तारस्वर में बोलने लगता है, सन्ध्या की लालिमा को देखकर ही पक्षीवर्ग चहचहाता हुआ अपने नीड़ों की चल देता है, ऋतुओं और कालों का आभास पक्षियों को मनुष्य से पूर्व ही मिल जाया करता है। राम के वन-गमन पर राजप्रासाद के अश्वों की करुण दशा का वर्णन तुलसी ने तथा कृष्ण के मथुरा चले जाने पर गो-कुल की हृदय-भेदक दशा का वर्णन सूर ने किया है; युद्धस्थल में स्थित अश्व तथा हस्ती के गर्जन से उनके स्वामी की दशा का ज्ञान दूरस्थित स्वजनों को हो जाया करता है। शक्ति का जो रूप जड़ में 'ध्वनि' कहलाता है वही चेतन में 'शब्द', ध्वनि बाह्य-शक्ति-जन्य है और शब्द आत्माभिव्यक्ति रूप।

ऊपर हमने शब्द को आत्माभिव्यक्ति का रूप बतलाया है, ध्वनि को नहीं; परन्तु यह कथन निर्विशेष रूप से सत्य नहीं है। यद्यपि जड़ पदार्थ आत्माभिव्यक्ति में समर्थ नहीं, परन्तु चेतन तो जड़ के माध्यम से आत्माभिव्यक्ति में तत्पर रहते हैं; संगीत की सारी सज्जा आत्माभिव्यक्ति ही तो है—संगीत में तो अभिव्यक्ति से अधिक, कभी-कभी उसके अभाव में भी, मोहिनी शक्ति कार्य करती है; यथा कुरंग को फँसाने के लिए वीणा-वादन कदाचित् वादक के आन्तरिक उल्लास को व्यक्त नहीं करता प्रत्युत मुग्ध हरिणों पर मोहिनी डालने का साधन-भर है। जब एक वादक वाद्य-यन्त्रों को ध्वनित करता है तो उस जड़-चेतन-संयोग में जड़ के माध्यम से चेतन की शक्ति अभिव्यक्ति के निमित्त ध्वनि का जो सार्थक रूप ग्रहण करती है उसे 'नाद' कहते हैं। 'नाद' अभिव्यक्ति, अतः सृष्टि का प्रथम निदर्शन है, इसीलिए कुछ सम्प्रदाय 'नाद' को सृष्टि की आदि अभिव्यक्ति मानकर उसको 'वेद' का अग्रज घोषित करते हैं। व्याकरण शास्त्र के मूलाधार माहेश्वर[1] सूत्र भी नाद के ही रूप माने जाते हैं; मन्त्र तथा तन्त्र में नाद की शक्ति ही काम करती है। सामाजिक स्तर पर नाद का क्षेत्र संगीत है और शब्द का साहित्य, यद्यपि परस्पर साहाय्य तो सर्वत्र वाञ्छित है ही।

## काव्य का जन्म

शब्द चेतन हृदय की अभिव्यक्ति है, इसके दो रूप हैं, स्वानुभूति तथा सामान्यानुभूति; स्वानुभूति अल्पानुभूति होने के कारण सत्व, रजस् तथा तमस् तीनों गुणों की उपाधि से लाञ्छित हो सकती है, परन्तु सामान्यानुभूति अखंड होने के कारण सर्वदा सात्विक है; पहिली पशु, पक्षी तथा मानव सबके द्वारा समान रूप से सम्भव है परन्तु पिछली केवल मानव का एकाधिकार है। मानव पशु है इसलिए वह अपने सुख से सुखी तथा अपने दुःख से दुःखी होता है, परन्तु वह पशु से कुछ अधिक भी है इसलिए वह दूसरे के सुख-दुःख का अनुभव कल्पना द्वारा कर लिया करता है, क्रौञ्च-मिथुन में से एक के निधन पर दूसरे की करुणा का अनुभव करते हुए महर्षि वाल्मीकि की वाणी आदिकाव्य का पूर्वाभास बन गई थी। पशु की अभिव्यक्ति प्रत्यक्ष एवं तात्कालिक अनुभूति से उद्भूत होती है, रोदन, क्रन्दन, हास्य, आक्रोश आदि उसके उदाहरण हैं; परन्तु काव्यात्मक अनुभूति या तो परानुभूति की अभिव्यक्ति है या स्वानुभूति की आवृत्ति[2]। कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जिनके व्यक्तित्व में हृदय-तत्त्व नष्टप्राय है, साहित्यिक दृष्टि से वे जड़ या अचेतन हैं, दूसरे ऐसे हैं जो केवल अपनी ही अनुभूतियों का भार वहन कर सकते हैं, वे पशु हैं, उनका व्यक्तित्व अल्प एवं संकुचित है; परन्तु थोड़े से ऐसे भावयोगी हैं जो प्राणीमात्र की अनुभूति को अपनी अनुभूति बना लेते हैं। स्वानुभूति और काव्यानुभूति

---

१. नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपञ्चवारम्।
उद्धर्तुकामः सनकादिसिद्धान् एतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम्॥

२. अंग्रेजी कवि वर्ड् सवर्थ ने कविता का लक्षण यह बतलाया है—
पोइट्री इज़ दी स्पौनटेनियस ओवरफ्लो ऑफ़ पॉवरफ़ुल फ़ीलिंग्स। इट टेक्स इट्स ऑरिजिन फ्रॉम इमोशन रिकलेक्टेड इन ट्रैंक्विलिटी।

में उनका भेद भले न हो परन्तु उनकी अभिव्यक्तियाँ भिन्न प्रकार की होती हैं। काव्यानुभूति वैयक्तिक न होकर सामान्य है इसलिए इसमें हृदय-पक्ष के साथ-साथ बुद्धि-पक्ष का भी सम्बन्ध होता है और यही बुद्धिपक्ष इन दो प्रकार की अनुभूतियों का व्यावर्तक धर्म है, इसीलिए काव्य के तीन तत्त्वों[1] (बुद्धि, भावना तथा कल्पना) में से पाश्चात्य आलोचक बुद्धि-तत्त्व को प्रथम तथा भाव-तत्त्व को द्वितीय स्थान देते हैं।

यदि अनुभूति काव्यानुभूति बनकर तदनुरूप अभिव्यक्ति चाहती है तो उसे शब्द के साथ-साथ अर्थ का भी रूप स्वीकार करना होगा; शब्दाभिव्यक्ति स्वानुभूति का सहज माध्यम है परन्तु शब्दार्थाभिव्यक्ति काव्यानुभूति का ही प्रकटीकरण। इसीलिए संस्कृत के पुराने आचार्यों ने काव्य का लक्षण शब्दार्थाभिव्यक्ति[2] मात्र ही स्वीकार किया था; काव्य की जो भी लक्षणमूल या वर्णनरूप विशेषताएँ हैं वे शब्द और अर्थ के इसी अपूर्व योग को आधार मानकर चलती हैं और संगीत से साहित्य का पृथक्त्व भी अर्थात्मकता पर ही निर्भर है।

अस्तु, शक्ति के तीन ध्वनि, नाद तथा शब्द स्वरूपों में पारिवारिक एकता होते हुए भी व्यावसायिक भेद है, ध्वनि निर्विशेष है, नाद वाद्ययन्त्राश्रित और शब्द संगीत तथा साहित्य दोनों में समादर का भाजन होते हुए भी एकाकीपन में संगीत का आश्रय-दाता है और अर्थ-संयोग में साहित्य का प्राण। काव्य या साहित्य शक्ति के स्वयंभू शब्द-रूप पर आश्रित होकर अर्थ के वैशिष्ट्य से अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाये हुए है, इसी वैशिष्ट्य के कारण यह संगीत की अपेक्षा अधिक आयुष्मान् तथा सचरणशील है।

काव्य का परिच्छेद

शब्दार्थप्राण काव्य सामान्यानुभूति की अभिव्यक्ति होने के कारण एक ओर अन्तर्जगत् से अनुप्रेरित है तो दूसरी ओर बाह्य-जगत् से अनुशासित। काव्य के दो पक्ष होते हैं, प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत, और दोनों पर ही देश-काल की परिस्थितियों का अमित प्रभाव पाया जाता है। युग-विशेष के प्रमुख काव्यों को पढ़कर हम यह जान लेते हैं कि उस युग के मानव का जीवन कैसा था, उसकी क्या समस्याएँ थी, उसकी राजनीतिक, धार्मिक तथा सामाजिक दशा कैसी थी और बुरा-भला, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, पाप-पुण्य आदि के विषय में उसकी क्या धारणाएँ थीं। कवि कथानक के संघटन एवं पात्रों के निर्माण में जिन सिद्धान्तों को स्वीकार करता है वे उसके आदर्श माने जा सकते हैं; स्थान-स्थान पर संवाद, उपदेश आदि के व्याज से अपने विचारों की अभिव्यक्ति वह करता ही जाता है। काव्य का प्रस्तुत पक्ष निश्चय ही कवि के उस व्यक्तित्व का द्योतक है जिसका निर्माण उस कवि की परिस्थितियों ने किया था और इसी व्यक्तित्व का अध्ययन काव्य के अध्ययन का विचारात्मक फल है।

कवि ने जो कुछ सिद्धान्त-रूप से, कथानक के निर्माण द्वारा, अथवा पात्र-सृष्टि में अभिव्यक्त कर दिया वह उसका प्रस्तुत पक्ष है, उसका अध्ययन आवश्यक है। परन्तु

१. हडसन : एन इन्ट्रोडक्शन टू दी स्टडी ऑफ़ लिटरेचर, पृ० १४।
२. शब्दार्थों सहितौ काव्यम्।(भामह . काव्यालंकार)
तद्दोषौ शब्दार्थौ ··· ·। (मम्मट : काव्यप्रकाश)

इस अध्ययन से भी अधिक आवश्यक है कवि और काव्य का स्थूल पक्ष, जो अनायास ही अनावृत हो गया है; कवि ने निस्संकोच भाव से [illegible]पूर्वक जो कुछ कह दिया केवल वही उसके विषय में प्रमाण नहीं, प्रत्युत जिसे कहते-कहते वह रुक गया वह भी उतना ही या उससे भी अधिक मूल्यवान् है। यदि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखें तो कवि की भाषा से पाठक के सम्मुख आने वाले भाव और विचार कवि के विषय में उतना उतना नहीं बता सकते जितना कि कवि से आँख छिपाकर चुपचाप झाँकने वाले और बाहर आने के लिए व्याकुल संयम के सीखचों पर गिर पटक-पटक कर मूर्छित हो जाने वाले भाव और विचार; उप-चेतन के ये ही अतिथि कवि के विषय में निष्पक्ष साक्षी हैं; कवि की वाणी संयम के अवगुंठन से जनपथ पर विचरण करती हुई जो हाव-भाव और संकेतों द्वारा कह गई वही उसके घर का रहस्य है; कवि ने शब्दों को जो कुछ कहने की आज्ञा दी उससे अधिक यदि प्रमादवश भी ये हमको बता जायँ तो हम अपनी सफलता पर धन्य हो जायँगे। अस्तु, काव्य का प्रस्तुत पक्ष निश्चय ही महत्त्व-पूर्ण अध्ययन का विषय है परन्तु उसका अप्रस्तुत पक्ष महत्त्व के साथ-साथ प्रमाण-रूप से अधिक विश्वसनीय भी है।

जीवन की सरसता-नीरसता, सुख-दुःख, उत्साह-वैराग्य आदि के साथ-साथ काव्य का परिच्छेद भी परिवर्तित होता रहता है, बाहरी सज-धज और तड़क-भड़क जीवन में अधान् रक्ति की द्योतक है, एवं वस्त्र-भूषण के प्रति उदासीनता जीवन से वैराग्य बत-लाती है; जीवन-मरण से मुक्ति चाहने वाले साधु और भिक्षु सदैव एक गैरिक वस्त्र धारण करते रहे हैं परन्तु ऐहिक सुखों के उपासक विलासी राजा एवं श्रेष्ठी जनों से कला को आश्रय तथा आदर मिला है। काव्यशास्त्र में कविता को कामिनी माना गया है जो स्वयं इस ओर संकेत करता है कि कविता में सामाजिक जीवन का प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है। जिस काल में भौतिक सुखों की पूर्णता होती है उसकी कविता और कामिनी चिन्ता-मुक्त होकर कलामय जीवन भोगती हैं। जनता का कविता और कामिनी के प्रति दृष्टिकोण भी समानान्तर होता है, बौद्धों और सन्तों ने कामिनी की छाया से भी घृणा की तो उनकी कविता रूप-रंग-हीन एक भिक्षुणी बन गई; संस्कृत साहित्य के आर्ष-युग में जीवन शान्त एवं सरल था, फलतः काव्य भी उदार, गम्भीर तथा सरल लिखा गया; महाकाव्यों के युग में वेदाभ्यासियों को जड़[1] कहा जाने लगा तो कविता भी रूप और सौन्दर्य में खिल उठी; कवि जितनी रुचि नायिका के शृंगार में रखता है उतनी ही कविता की सजावट में भी।

सौन्दर्य का जीवन में इतना महत्त्व होते हुए भी कुछ आलोचक उसको आदर की दृष्टि से नहीं देखते; उनके मत में कविता को आँखें नीची करके श्वेत परिधान में

---

१ वेदाभ्यासजडः कथं नु विषय-व्यावृत्तकौतूहलो।
निर्मातुं प्रभवेन् मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः ॥१०॥
(विक्रमोर्वशीये, प्रथमोऽङ्कः)

संयमन पर ध्यान रखकर बिना छिपे-छुपे अपना सन्देश कह जाना चाहिए। इस प्रतिसंयम के दो रूप हैं। प्रारम्भिक दिनों में कवि औचित्य का सदा ध्यान रखते थे, वे यह जानते थे कि भिन्न भाषा में और भिन्न मात्रा में परिष्कृत कविता-कामिनी के कलेवर को विभूषित[1] करेगा और वह वह गुणविहीन भार बन जावेगा; परन्तु पीछे कविता-कामिनी की क्षमता का विचार न रहा और स्वकीय वैभव के प्रदर्शनार्थ कवि ने कविता को आज्ञा दी कि पूर्ण रूप से सजे बिना वह बाहर झाँकने का प्रयत्न न करे। जो सुकुमारी शोभा के भार से ही डगमग चाल चलती है वह आभूषणों का बोझ कैसे सँभाल[2] सकेगी, यह विचार विलासी कवियों के ध्यान में ही न आया, वस्तुत: वे उस कविता-कामिनी को क्रीतदासी तथा अपने विलास का साधन मात्र समझते थे। सौन्दर्य की अवहेलना का दूसरा कारण आलोचकों का व्यक्तित्व है। काव्य एक ओर कवि के व्यक्तित्व का परिचायक है तो दूसरी ओर पाठक की रुचि का परीक्षक भी। कवि ने तो अपने युग में रहकर अपनी परिस्थितियों में विकसित होकर अपने अध्ययन-मनन के फलस्वरूप एक काव्य का निर्माण कर दिया; अब उसका स्वागत कैसा होता है यह आलोचक के व्यक्तित्व पर निर्भर है, इसी कारण देश, काल तथा पात्र के भेद से आलोचना में सदा भेद पाया जाता है; राजगुरु बनकर संस्कृत के दरबारी साहित्य का रसास्वादन करनेवाले केशवदास ने जो काव्य लिखा उसको राजाश्रय से निराश, जीवन की गुत्थियों में उलझा हुआ, संस्कृत-साहित्य की परम्परा से अपरिचित आज का मजदूर या कूटनीतिजीवी आलोचक कैसे पसन्द कर सकता है? काव्य सुन्दर हो, इस विषय में मतभेद नहीं हो सकता, परन्तु प्रसाधन की मात्रा तथा परिच्छद के प्रकार पर पाठक और आलोचक एकमत नहीं हैं। कामिनी के समान कविता अपनी नग्नता[3] में आकर्षक नहीं लगती, उसे वस्त्राभूषण की अपेक्षा है; यह वस्त्राभूषण एक श्वेत[4] वस्त्र मात्र हो या अमूल्य रत्नाभरण।

यह एक विचारणीय विषय है कि प्रसाधन जीवन का मापक है या नहीं, विशेषत: कविता के क्षेत्र में प्रसाधन के आधार पर ही यह निर्णय नहीं दिया जा सकता कि

---

१. "हाउएवर दि अर्ली राइटर्स एमप्लोइड मैनी फिगर्स इन दिअर कम्पोजीशन्स, एण्ड यट थर मोर नेचुरल दैन दोज़ हू अवोयड दैम ऑलटुगैदर, बीकॉज़ दे इन्ट्रोडयूस्ड दैम इन एन आर्टिस्टिक वे।" (अरिस्टोटल : पोइटिक्स, पृ० २१७)

२. भूषन भार सम्हारिहै, क्यों यह तन सुकुमार।
सूधे पाँइ न धर परें, सोभा ही के भार॥ (बिहारी)

३ "व्हाट इज़ क्लोअर एण्ड एवोडेंट इज़ एप्ट टु एक्साइट कॉन्टेम्प्ट, जस्ट लायक मैन हू हैव स्ट्रिप्ड दैमसेल्वज़ नैकिड।" (अरिस्टोटल : पोइटिक्स, पृ० २२४)

४ सेत सारी ही सौं सब सौतें रँगी स्याम रंग,
सेत सारी ही सौं रँगे स्याम लाल रँग में। (मतिराम)

अमुक काव्य जीवन से ओत-प्रोत है अमुक नहीं। केशव जैसे चमत्कारी कवियों में प्रसाधन का वैभव पाठक को खिन्न कर देता है, परन्तु सूक्तिकारों के कोरे उपदेश जीवन का सार दिखाई पड़ते हैं, नहीं, दोनों में नरेन्द्र शर्मा का गीत "आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे" अधिक लोकप्रिय है परन्तु महादेवी वर्मा का "धीरे-धीरे उतर क्षितिज से आ वसन्तरजनी" उतना नहीं है। तब तो ऐसा लगता है कि कविता-वनिता विच्छित्ति-हाव में ही हृदय पर अधिकार करती है। विपरीत उदाहरणों की भी कमी नहीं, 'विनयपत्रिका' तुलसी का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है तथा सांग रूपकों का विशाल चमत्कार भी उसी में सर्वाधिक है, 'साकेत' का नवम सर्ग आलोचना तथा वैभव दोनों ही कसौटियों पर सर्वोत्तम है, बिहारीलाल हिन्दी के उत्तम कवियों में हैं और अलंकार का जितना चमत्कार उनमें है उतना अलंकृत-काल के भी अन्य कवियों में नहीं। तब क्या काव्य-सौष्ठव और सौन्दर्य-सम्पत्ति एक ही गुण के दो अलग-अलग नाम हैं ?

वस्तुतः काव्य का मूल्य उसके भाव-विचार-कोष पर निर्भर है, केवल वेष-भूषा पर नहीं, निश्चय ही परिच्छद धारणकर्ता के विषय में किसी अनुमान को जन्म देते हैं परन्तु तभी तक जब तक कि कोई अन्य ठोस आधार प्राप्त न हो, राजकीय वस्त्र धारण करने वाले को राजपुरुष समझा जायगा, परन्तु यदि यह प्रवाद भी फैल गया कि यह राजपुरुष नहीं चोर है (चुराकर राजकीय वस्त्र धारण कर रहा है) तो फिर कोई भी अनुमान निश्शंक नहीं हो सकता; कण्व के आश्रम में मृगयाविहारी राजा जब अपनी वास्तविकता को छिपाकर शकुन्तला आदि के समक्ष पहुँचा तो उन्होंने उसको सामान्य राजपुरुष समझा, जब उसने दुष्यन्त-नामांकित मुद्रिका शकुन्तला को सिंचन से मुक्त करने के लिए दी तो सखियों को तत्काल सन्देह हुआ, परन्तु समाधान होने पर वे फिर उसे सामान्य राजपुरुष ही समझने लगीं। अस्तु, काव्य का मूल्य उसके वस्त्राभरण से नहीं प्रत्युत उसके विचार और भाव से निर्धारित किया जाता है। परन्तु वस्त्राभूषण व्यर्थ नहीं हैं, वे विचारों के मूल्य पर तो अनुशासन नहीं रखते किन्तु भाव की अतिशयता के मापक हैं। विचार की अभिव्यक्ति सरल तथा सहज ढंग से भी हो सकती है और भावना की मोहिनी में लपेटकर भी, जब विचार सरल एवं सौम्य रूप से पाठक के सम्मुख आवेगा तब उसकी स्वीकृति गाम्भीर्य में निहित रहेगी, परन्तु जब वह चमचमाता हुआ मन पर अधिकार कर लेगा तो उसकी अस्वीकृति असंभव है। जब विचार भावुकता से भर जाते हैं तो भाषा वास्तविक विचारों को व्यक्त नहीं करती, विचारों के प्रति रचयिता की भावुकता को व्यक्त करती है[१]। इस प्रकार की अभिव्यक्ति समभावक को अत्यधिक प्रभावित करेगी, सामान्य पाठक या साहित्यिक समालोचक

---

१ "दि मोर इमोशन्स ग्रो अपोन ए मैन, दि मोर हिज़ स्पीच एबाउण्डस इन फिगर्स··· फीलिंग्स स्वाम्प आइडियाज़ एण्ड लैंग्वेज इज़ यूज्ड टु एक्सप्रेस नॉट दि रिग्नॉफ थिंग्स बट दि स्टेट ऑफ वन्स इमोशन्स"।

(राघवन : स्टडीज़ ऑन सम कन्सेप्ट्स ऑफ़ दि अलंकारशास्त्र)

को नहीं। इसीलिए कवि को यह ध्यान रखना चाहिए कि आलंकारिक सौन्दर्य प्रमुख न बन जाय, उसका औचित्य उसकी स्वाभाविकता[1] में है; अलंकारों की अति रचयिता की शैली में अपरिपाक की द्योतक है, इससे अव्यवस्था तथा सुरुचिहीनता का अनुमान कर लिया जाता है।[2]

## काव्य का अप्रस्तुत पक्ष

यह निश्चय कर चुकने के अनन्तर कि काव्य में प्रस्तुत पक्ष से अधिक महत्व अप्रस्तुत पक्ष या परिच्छद का है, और परिच्छद का वैभव कवि के व्यक्तित्व का विशेष परिचय देता है, हमको यह देखना होगा कि परिच्छद अथवा अप्रस्तुत पक्ष का वास्तविक एवं निश्चित अर्थ हम क्या ले रहे हैं। काव्यशास्त्र के पुराने आचार्यों ने काव्य के अप्रस्तुत पक्ष को 'अलंकार' नाम दिया था, और सौन्दर्य की समस्त योजना को वे अलकार ही कहते थे; परन्तु इस शब्द से छन्दोयोजना, भाषा-व्यवहार आदि का कभी बोध नहीं हुआ। यदि काव्य के प्रस्तुत पक्ष को 'वर्ण्य' कहा जाय तो अप्रस्तुत पक्ष का नाम 'वर्णन' है, यदि प्रस्तुत पक्ष को 'अलंकार्य' कहे तो अप्रस्तुत पक्ष 'अलंकार' है। भामह ने 'भूषा', 'अलंकृति', 'सन्निवेश',[3] शब्दों का प्रयोग समान अर्थ में किया है, दण्डी में भी 'अलकार' शब्द का व्यापक अर्थ है; 'अलंकृति' तथा 'अलंकार' शब्दों को पुराने आचार्य समानार्थी ही समझते थे। वामन ने 'अलकार' शब्द का प्रयोग संकीर्ण तथा व्यापक दोनों अर्थों में कर दिया, वे सौन्दर्य-मात्र को भी अलकार कहने लगे और सौन्दर्य के अतिशयता धर्म को भी। हिन्दी में आचार्य केशव ने 'अलकार' शब्द का व्यापक अर्थ लिया है, उनका अनुकरण गुरदीन पाण्डेय, बेनी प्रवीन, तथा पदुमनदास[4] ने किया। पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने काव्य-योजना के दो भेद किये हैं—'वर्ण्य-वस्तु' तथा 'वर्णन-प्रणाली'[5], और 'वर्णन-प्रणाली' को उन्होंने 'अलंकार' का पर्याय[6] माना है। यदि केशव को आधार मानकर चलें तो अप्रस्तुत पक्ष या 'वर्णन-पंथ' का नाम अलकार है, इसके दो भेद हैं, साधारण या सामान्य तथा विशिष्ट। 'सामान्यालंकार' का अर्थ वर्णन-सामग्री और 'विशिष्टालंकार' का अर्थ वर्णन-शैली है; इसीलिए विशिष्टालंकार को ही भाषा[7] का भूषण माना गया है।

वस्तुतः अप्रस्तुत पक्ष के दो भेद मानने ही होंगे, एक सामग्री-गत दूसरा शैली-गत। कवि प्रस्तुत के प्रति अपने भाव को व्यक्त करने के लिए जिस सामग्री का उपयोग करता

---

१. "ए फिगर लुक्स बेस्ट व्हेन इट एस्केप्स बीइंग नोटिस्ड दैट इट इज ए फिगर"।

(लोनजाइनस औन दि सब्लाइम)

२ "दि फिगर्स मुस्ट नौट बी न्यूमरस। दिस मोड सेम मोर टेस्ट एण्ड एन अनईवननेस ऑफ स्टाइल।" (२१७) (अरिस्टोटल · पोइटिक्स)

३. दे० 'हिन्दी-अलंकार-साहित्य', परिशिष्ट, पृ० २५४।

४ दे० 'आलोचना की ओर' (परिवर्द्धित संस्करण), पृ० १८२।

५. दे० 'कविता क्या है' (चिन्तामणि I, पृष्ठ १८३)

६. दे० 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य' (वही II, पृ० ५)

७ भाषा इनने भूषणनि, भूषित कीजै मित्र। (कविप्रिया, ६.७)

है वह सामग्री स्वतन्त्र अध्ययन का विषय है और जिस प्रकार से उस सामग्री का उपयोग हुआ है वह अलग शैली-गत अध्ययन का विषय। रमणी के मुख का वर्णन करते हुए एक कवि ने कहा 'मुख मानो चन्द्र है', दूसरे ने कहा 'मुख कमल है'; प्रथम वाक्य में वर्णन-सामग्री 'चन्द्र' है और वर्णन-शैली 'उत्प्रेक्षा', दूसरे वाक्य में वर्णन-सामग्री 'कमल' है और वर्णन-शैली 'रूपक'; वर्णन-सामग्री की तुलना से हम यह बतला सकते हैं कि दोनों कवियों के मुख-विषयक दृष्टिकोण में क्या भेद है, और वर्णन-शैली की तुलना से दोनों कवियों की मुख-विषयक हृदयस्थ भावना का हमको ज्ञान हो सकता है। शुक्ल जी ने कवि-कर्म-विधान में विभाव-पक्ष के अन्तर्गत दो रूपों में लाई गई वस्तुएँ मानी हैं—वस्तु-रूप (प्रस्तुत रूप) में तथा अलंकार-रूप (अप्रस्तुत रूप) में'; और अलंकार-रूप में लाई गई वस्तु से उनका तात्पर्य 'सामान्यालंकार' अथवा 'वर्णन-सामग्री' से ही है। यह आश्चर्य की बात है कि केशव का विरोध करते हुए भी आलोचक केशव के 'सामान्यालंकार' को आज भी विवेच्य समझते हैं और वर्णन-सामग्री को अलंकार नाम से ही अभिहित किया जाता है।

यह प्रश्न किया जा सकता है कि अप्रस्तुत के वर्णन-सामग्री (सामान्यालंकार) तथा वर्णन-शैली (विशिष्टालंकार) पक्षों में से आलोचक की दृष्टि में कौन अधिक महत्त्वपूर्ण एवं प्रामाणिक है। इसका उत्तर यही होगा कि यद्यपि ये दोनों परस्पर में नितान्त स्वतन्त्र नहीं हैं, फिर भी वर्णन-सामग्री कवि की रुचि का द्योतन करती है, और वर्णन-शैली कवि की भावना का—वर्णन-शैली तो वर्णन-सामग्री के आधार पर ही उसके प्रति कवि के अनुराग की मापक है; मुख को चन्द्र कहनेवाला उसके नयनानन्द-कारक अमृतमय रूप का प्रशंसक है, यदि इस प्रशंसा में उसने उपमा अलंकार का आश्रय लिया तो उसकी भावना हलकी मानी जायगी, उत्प्रेक्षा में कुछ बलवती और रूपक में नितान्त बलवती, क्योंकि उस दशा में मुख तथा चन्द्र में अभेद ही हो गया। वर्णन-शैली सूक्ष्म भावना का माप-यन्त्र है परन्तु वर्णन-सामग्री की छाँट अखिल विश्व में से केवल वस्तु-विशेष पर केन्द्रित होने के कारण मन के झुकाव अथवा रुचि का प्रमाण है। वर्णन-सामग्री का अध्ययन जितना वैचित्र्यपूर्ण तथा सूचनात्मक होगा उतना वर्णन-शैली का नहीं, क्योंकि वह सैद्धान्तिक तथा अमूर्त है।

रुचि-वैचित्र्य से वर्ण्य-विषय की समानता में भी वर्णन-सामग्री में वैचित्र्य होगा, यह तो सिद्ध है, परन्तु कभी-कभी कवियों की रुचि वर्ण्य-विषय के वैचित्र्य में वर्णन-सामग्री की समान योजना कर देती है; वस्तुतः प्रस्तुत और अप्रस्तुत में से एक में साम्य और दूसरे में वैषम्य रुचि-भेद पर आश्रित रहता है। उदाहरण के लिए प्रस्तुत-वैषम्य में अप्रस्तुत-साम्य के दो छन्द देखिए—

(क) बागो ना जा रे, तेरे काया में गुलजार।
करनी-क्यारी बोइ के, रहनी कर रखवार।
दुरमति-काग उड़ाइ के, देखे अजब बहार।

---

१. दे० 'महाकवि सूरदास जी' (भ्रमर-गीत-सार, पृ० ४-५)।

मन-माली परबोधिए, करि संजम की बार।
दया-पौद सूखै नहीं, छमा सींच जल दार।
गुन औ' चमन के बीच में फूला अजब गुलाब।
मुक्ति बनी गलमाल की चहिए गूँथि गलहार॥ (कबीर)

(ग) बागन काहे को जाओ पिया, घर बैठे ही बाग लगाय दिखाऊँ।
एड़ी अनार सी मौर रही, बहियाँ दोउ चपे सी डार नवाऊँ।
छातिन में रस के निबुआ, अरु घूँघट खोलि कै दाख चखाऊँ।
ढाँगन के रस के चसके रति फूलनि की रसखानि लुटाऊँ॥ (रसखान)

कबीर और रसखान दोनों ने ही शरीर को वाटिका बनाया है, परन्तु एक के लिए निर्गुण प्रणाली पर पुरुष का शरीर वाटिका है और दूसरे के लिए विलास-धारा से सिञ्चित युवती का कलेवर वाटिका है, एक से शान्त रस की उपलब्धि होती है दूसरे से शृंगार रस की। प्रस्तुत का यह वैषम्य दोनों कवियों की रुचि पर पर्याप्त प्रकाश डालता है।

प्रस्तुत अध्ययन

यह कहा जा चुका है कि काव्य-गत सौन्दर्य का अध्ययन करते हुए काव्य के प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत दो पक्ष माने जा सकते हैं, और क्योंकि इस अध्ययन का उद्देश्य कवि के व्यक्तित्व का यथासंभव परिचय प्राप्त करना है इसलिए प्रस्तुत पक्ष में आने वाली सामग्री की अपेक्षा अप्रस्तुत पक्ष की सामग्री अधिक प्रामाणिक अत लाभदायक है—उस पर कवि का ज्ञात संयम नहीं होता अतः वह उसके अन्तस्तल के अनेक रहस्यों की सूचना दे सकती है। अप्रस्तुत पक्ष के दो रूप हैं वर्णन-सामग्री तथा वर्णन-शैली: हमने अपना अध्ययन वर्णन-सामग्री तक सीमित रखा है, वर्णन-शैली की तो यत्र-तत्र सहायता ही ली है। यदि केशवदास की शब्दावली का प्रयोग करें तो हमारा यह अध्ययन सामान्यालंकार तक सीमित है, और सामान्यालकार की सामग्री की परीक्षा करके ही हमने कवि एवं काव्य के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में सामान्य निष्कर्षों पर पहुँचने का प्रयत्न किया है।

यह कहना अनावश्यक है कि हिन्दी मे यह अध्ययन अपने रूप तथा गुण में सर्वांशतः मौलिक है। अब तक कवियों और काव्यों के जितने अध्ययन हुए हैं उनमे उनका परिचय, उनका दर्शन, उनकी काव्य-कला तथा उनका महत्त्व और योगदान ही विवेचन और परीक्षण के विषय बने हैं। व्यक्तित्व के अध्ययन के प्रयत्न हुए ही नहीं, और यदि किसी ने संकेत किया है तो केवल प्रस्तुत एवं प्रतिपाद्य सामग्री को दृष्टि में रखकर ही, अप्रस्तुत सामग्री के संकेतों से लाभ उठाकर नहीं। अप्रस्तुत सामग्री का इतना अधिक उपयोग किसी अन्य आलोचक ने नहीं किया, और अप्रस्तुत सामग्री की 'सामान्यालंकार' के अर्थ में स्वीकृति भी पहिले नहीं हुई।

अप्रस्तुत सामग्री से हमने जो निष्कर्ष निकाले हैं, वे कितने निर्विवाद और किस मात्रा में पूर्ण हैं? यह प्रश्न आद्यन्त हमारे मस्तिष्क में रहा है और यह स्वीकार करने में हमको कोई संकोच नहीं कि अनेक बार हमारे निष्कर्ष निर्वैयक्तिक नहीं रहे।

अप्रस्तुत सामग्री पाठक के सम्मुख केवल संकेत ही रख सकती है प्रत्यक्ष प्रमाण प्रस्तुत नहीं कर सकती, क्योंकि नदियों के समान सागर मिलने के बाद में उनकी अस्फुटतापता का बन्धन मानना पड़ता है; फिर संकेत-ग्रहण व्यक्तित्व-निरपेक्ष हो भी नहीं सकता। इसलिए यदि मेरे आलोचक-बन्धु "किमपि हृदये कृत्वा मन्त्रयसे" का आरोप लगाते हुए मुझ से असहमत हों तो मुझे आश्चर्य न होगा। अप्रस्तुत सामग्री से जो संकेत मुझे मिले उनको मैंने ग्रहण कर लिया, यदि अन्य लोग दूसरे संकेत ले सकें तो यह भी अध्ययन और मनन का ही परिणाम होगा, इसलिए हम दोनों के निष्कर्ष सम्पूर्ति-विधायक भी हो सकते हैं; कम से कम अप्रस्तुत सामग्री से संकेत ग्रहण करके व्यक्तित्व का अध्ययन तो किया गया।

अध्ययन के इस क्रम में हमने देखा है कि व्यक्तित्व के विकास में कतिपय परिस्थितियों का निश्चित योग होता है। इन परिस्थितियों को व्यापकता से संकीर्णता की ओर लाते हुए उनके नाम राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक तथा वैयक्तिक परिस्थितियाँ होंगे। राजनीतिक परिस्थिति तो व्याख्यापेक्षणीय नहीं, धार्मिक परिस्थिति में मत-सम्प्रदाय आदि, सामाजिक में जीवनयापन व्यवसाय आदि, साहित्यिक में शिक्षा आदि, तथा वैयक्तिक परिस्थिति में जन्म-जाति, माता-पिता आदि को सन्निहित माना जा सकता है। किस परिस्थिति का किस व्यक्ति पर कितना प्रभाव पड़ेगा—इसका कोई नियम नहीं; समस्त आचार-विचार का खंडन करनेवाले कबीरदास ने बादशाही अत्याचार के विरुद्ध एक शब्द भी न कहा, यह आश्चर्य का ही विषय है; सांसारिक प्रेम से आध्यात्मिक प्रेम का मार्ग निकालने वाले सूफियों ने राधा का नाम न सुना हो, यह विश्वसनीय नहीं है। फिर भी प्रत्येक युग का अपना एक रंग है जो उस युग के सभी कवियों में पाया जाता है, भक्तिकाल में नारी से दूर भागने की प्रवृत्ति का इतना जोर था कि नारी के उपासक लोक-कहानी-कार भी उसको कोस-कोस कर ही उस पर प्राण देते थे; इसके विपरीत रीतिकाल में नारी जब अशरण-शरण बन गई तो हिन्दुओं के देवता भी उसके पैर पलोटने में अपने को कृतकृत्य समझने लगे। वस्तुतः युग और सम्प्रदाय की द्विमुखी छाप तो प्रत्येक कवि पर पाई जाती है, शेष तीन के चिह्न भेद के आधार हैं; फलतः हिन्दी-साहित्य की काव्यधाराओं का अध्ययन करने के लिए प्रत्येक धारा के शिरोमणि कवि का अध्ययन ही पर्याप्त है; न जाने क्यों एक आकाश में एक ही चन्द्र उदित होता है; केवल रामभक्तिधारा ही ऐसी अनोखी है जिस पर तुलसी और केशव दो महान् तीर्थ हैं। अस्तु, प्रस्तुत अध्ययन की विन्ध्याटवी में हम केवल शाल्मली तरुओं पर ही टिक सके हैं, और हमारी दृष्टि फल-पत्र-राशि के स्थान पर कोटरस्थ पक्षी-वर्ग पर जम गई है।

: २ :

# वीर-गाथा काव्य

## पृष्ठभूमि

ब्राह्मण धर्म की विकारग्रस्त वर्णाश्रम प्रथा से तिलमिलाकर जब पददलित जनता ने महात्मा बुद्ध के नेतृत्व में विद्रोह का स्वर उठाया तो देश में आमूल परिवर्तन प्रारम्भ हो गया, पुराने विचार, पुरानी भाषा, पुराना साहित्य, पुराने प्रमाण (धार्मिक ग्रन्थ आदि) सभी को त्याज्य समझा गया, और बुद्ध के व्यक्तिगत प्रभाव के कारण इस विद्रोह ने थोड़े ही समय में अद्भुत परिवर्तन दिखा दिया; ऐसा जान पड़ने लगा मानो इससे पूर्व या तो कुछ था ही नहीं और यदि था भी तो अधिकतर सारहीन ही था। परन्तु वृक्ष के साथ उसकी छाया भी विलीन हो गई और उसकी पत्तियाँ खडखड का सूखा शब्द करती हुई अपने निर्जीव अस्तित्व का ही प्रतीक बन बैठी। एक ओर बौद्धों में विकार पर विकार आने लग गये, दूसरी ओर ब्राह्मण धर्म ने भी सचेत होकर करवट बदला। अत शंकराचार्य की एक ललकार ने अवैदिक मतो के छक्के छुड़ा दिये। बहुत दिनों के उपरान्त वर्णाश्रम धर्म फिर सिंहासनासीन हुआ। पतित जनता में स्वतन्त्र चिन्तन का चिरलोप हो चुका था अत. समाज के अधिकारियों ने अवैदिक मतावलम्बियों के अनाचार को लक्ष्य बनाकर जनता को उनसे विमुख कर दिया और ब्राह्मण धर्म की एक बार फिर प्रतिष्ठा की।

विद्रोह तो शान्त हो गया परन्तु उसके कुछ चिन्ह न मिट सके, जिनमें से मुख्य भाषाविषयक था, ब्राह्मण धर्म वाले भी यह समझ गये कि अब देववाणी मानव-जगत् के लिए व्यवहार्य नहीं रही। अवैदिक अनात्मवाद चिन्तन के क्षेत्र मे मायावाद बनकर आया, और सामाजिक जीवन में वह भाग्यवाद[१], आत्म-त्याग तथा स्वामि-सेवा में बदल गया। नारी भोग तथा अविश्वास की भी पात्र[२] समझी जाने लगी। विद्रोह की प्रतिक्रिया भी जमकर हुई और वेदशास्त्र एव वेदोक्त गुणो के प्रति भरसक श्रद्धा दिखलाई गई; जनता की भाषा को साहित्य में स्थान देकर उसको संस्कृत भाषा से सजाना प्रारंभ हो गया। विक्रम को एक सहस्र[३] वर्ष बीत रहे थे कि भाषा में

१. श्री राहुल सांकृत्यायन ने 'सिद्ध-सामंत-युग' के 'निराशावाद' (भाग्यवाद) का कारण सामन्तों की युद्ध-क्षेत्र में असफलता को माना है, परन्तु वीरकाव्य का भाग्यवाद एक उदात्त भावना की उपज है जिसमें अवसाद की अपेक्षा उल्लास अधिक है; आगे चलकर भक्ति काव्य में अवश्य पराजय का प्रभाव माना जा सकता है।

(देखिए 'हिन्दी काव्य-धारा', 'भवतरणिका')

२ दिअर इज़ एम्पिल एवीडेन्स टु शो दैट वीमन वर एसाइन्ड एन इनफीरियर पोजीशन इन दी सोशल स्केल। (हिस्ट्री ऑफ इण्डिया; पृ० २२५)

३ सन् ई० की १०वीं शताब्दी में ब्राह्मण धर्म सम्पूर्ण रूप से अपना प्राधान्य स्थापित कर चुका था·········। (६०) (मध्यकालीन धर्मसाधना)

एक नया साहित्य पनप उठा, जिसका उत्तर भारत के राजपूत राजाओं से निकट सम्बन्ध है, और जिसमें ब्राह्मण[1] धर्म की फिर से स्थापना है।

हिन्दी भाषा का जन्म तो बहुत पहिले ही माना जा सकता है परन्तु हिन्दी-साहित्य का प्रारम्भ इस पुनरुत्थान काल से ही मानना पड़ेगा[2], उस दिन से आज तक साहित्य में यही अविच्छिन्न विचारधारा दिखलाई पड़ती है, समय-समय पर अन्य प्रकार के विचार भी मिलते हैं, जैसा कि स्वाभाविक है, परन्तु उनका परिपाक भी ब्राह्मण धर्म की पुष्टि में ही होता है। इसमें सन्देह नहीं कि बौद्ध धर्म के आन्दोलन ने ब्राह्मण धर्म की अनेक कुरीतियों को दूर करके उसे हिन्दी-साहित्य को स्थायी स्रोत के रूप में दिया, परन्तु कला के लिए हमारा साहित्य बौद्धों की अपेक्षा जैनों का अधिक ऋणी है। हिन्दी साहित्य को जैनकाव्य की, अपभ्रंश-साहित्य में सुरक्षित, निधि परंपरा से मिली, छंद, अलंकार तथा वर्णन सब में उसका प्रभाव शताब्दियों तक मिलता है।[3] जैनों तथा बौद्धों का दोहा छन्द तो हिन्दी का अमर छन्द बन गया है, अपभ्रंश की वर्णन-शैली भी जायसी तक खूब मिलती है। वीरकाव्य का सौन्दर्यपक्ष मुख्यतः इसी अपभ्रंश लोक-परंपरा का विकसित रूप है। वीरकाव्य को जो परंपरा मिली थी उसका जनता के जीवन से निकट सम्बन्ध था, इसीलिए उसमें स्वाभाविकता का ही प्रधान आकर्षण है।

## राजनीतिक परिस्थिति

वैदिक संस्कृति अहिंसा को परम धर्म न मानकर व्यापक धर्म का एक अंग विशेष मानती है, इसलिए इस पुनरुत्थान का नेतृत्व "एक जीव की हत्या से डरने वाले तपस्वी बौद्ध"[4] भिक्षुओं को न मिलकर शस्त्रजीवी क्षत्रियों को मिला, जिनको इतिहास में 'राजपूत' कहा जाता है। राजपूत राजाओं में एकछत्र शासन की प्रथा न थी, एक नरेश दूसरे राजा पर आक्रमण अवश्य करता था परन्तु न तो उसके राज्य को अपने

---

१. इण्डिया इन दि इलेविन्थ सेन्चुरी एज़ अलबेरूनी सा इट वाज़ क्वाइट डिफ़रेन्ट। बुद्धिज्म, और ए मिक्सचर ऑफ़ बुद्धिज्म एण्ड शाक्तिज्म, और तान्त्रिज्म वाज कनफ़ाइन्ड टु वन कॉरनर ऑफ दि कन्ट्री, नेमली बंगाल; जैनिज्म मेन्टेन्ड इट्स एग्ज़िस्टेन्स इन दि एक्स्ट्रीम वेस्ट, गुजरात एण्ड राजपूताना; बट दि डोमिनेटिंग फ़ोर्ड ऑफ़ इण्डिया वाज़ हिन्दुइज्म।(इन्फ़्ल्युएन्स ऑफ़ इस्लाम ऑन इण्डियन कल्चर पृ० १३१)

२. हरनलि साहबेर मते ८०० खृ० हइते १२०० खृ० अब्देर मध्ये प्राकृतेर युग लुप्त ओ गौडीय भाषासमूहेर युग उद्भूत हइयाछिल। बौद्ध-शक्तिर पराभवे, हिन्दु-धर्मेर पुनरुत्थाने, हिन्दु-जातिर नव चेष्टार स्फुरणे ओ संस्कृतेर नवविकाशे, सेइ परिवर्त्तन एत द्रुत हइल········। (१५) (बंगभाषा ओ साहित्य)

३. 'हिन्दी काव्यधारा,' 'अवतरणिका', पृ० १२-१३।

४. 'चन्द्रगुप्त मौर्य'।

राज्य में मिलाता था और न विजित प्रजा पर लूट-मार आदि अत्याचार ही करता था; चक्रवर्ती भूमिपाल "केवल यश के लिए ही विजय"[१] करते थे जिसमें न तो बौद्धों की कायरता को स्थान है और न यवनों की अमानुषिक बर्बरता का आदेश।

परमेश्वर संसार की सबसे बड़ी शक्ति है और इस संसार का परमेश्वर (या परमेश्वर का प्रतिनिधि) राजा है[२], ब्राह्मण धर्म के इस विचार की इस युग में बड़ी धूम रही; राजनीति में इसको 'दैवी अधिकार' कहते हैं। "राजाओं का एक सत्तात्मक शासन था, प्रजा का उसमें कोई हाथ न था''''''स्थायी सेना रखने की प्रथा घटती जाती थी'''"[3] परन्तु प्रजा का प्रत्येक व्यक्ति राजा के लिए प्राण-त्याग करना अपना परम कर्त्तव्य[४] समझता था। राजा के सामन्त तथा दरबारी सभी कम से कम कर्म से क्षत्री होते थे जिनका यह विश्वास था कि एक न एक दिन तो मरना ही है फिर क्यों न स्वामी की सेवा में तन अर्पित करके इस लोक में यश तथा परलोक में स्वर्ग-सुख प्राप्त किया जाय।[५] जिस प्रकार धार्मिक क्षेत्र में भगवदिच्छा समझकर किया गया निष्काम कर्म भगवान् को समर्पित हो जाता है कर्त्ता उसके लिए उत्तरदायी नहीं समझा जाता, उसी प्रकार ऐहिक जीवन में अपना व्यक्तित्व राजा या स्वामी को अर्पित कर देना इस युग का सबसे बड़ा प्रजा-धर्म था।[६]

शासकों के स्वभाव में स्वाभिमान की मात्रा विशेषतः देखने योग्य है परन्तु वह स्वाभिमान कोरा अहंकार मात्र ही न था उसमें अपने पद तथा अपनी मर्यादा का सदा ध्यान रहता है; एक सामन्त जो कल तक एक सामान्य सैनिक था आज शासक बन गया तो उसका यह कर्त्तव्य हो जाता है कि अपने पद की मर्यादा की रक्षा अपने प्राणों से खेलकर भी करे, यदि वह ऐसा नहीं करता तो वह नीच है, कुल-कलंक है, उस पद के योग्य नहीं है। फलतः छोटी-छोटी बातों के लिए ही बहुत बड़े-बड़े युद्ध ठन जाते थे, अधिकतर युद्धों का कारण या तो अपनी मर्यादा-रक्षा है या प्रजा के किसी सामान्य कष्ट का बदला; शासक की दृष्टि से दोनों में तनिक भी अन्तर नहीं है। प्रजा के लिए

---

१. यशसे विजिगीषूणाम्—रघुवंशम्।

२. सो नृप भ्रम वेदन कह्यो, नृप परमेसर आहि।
(पृथ्वीराज रासो, पृ० २०६४)

३. "भारतीय इतिहास में राजपूतों के इतिहास का महत्त्व।"
(द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ पृ० ४५-६)

४. स्वामि सौंपर्‌ै जानि तन, रहै प्रान घर सोय।
सो रानी सिर लीलियो, कुल रजपूत न होय॥ (परमाल रासो, २८०)

५. जे भागे तेऊ मरे, तिन कुल लाइए खेह।
भिरे सु नर गय जोति मिलि, बसे अमरपुर तेह॥
(पृथ्वीराज रासो ११६८)

६. स्वामित्त तेज निग तम तपन, होय न लग्गे जोर जग।
(पृ० रा० १२११)

इतना त्याग करने के कारण ही उस युग का राजा 'शासक' न कहलाकर 'प्रजापालक' कहलाता है, एक व्यापक अर्थ में उसको प्रजा का पिता ही समझना चाहिए।[1]

राजपूतों के स्वभाव में स्वाभिमान, आत्म-त्याग तथा प्रजा-पालन के अतिरिक्त दो वृत्तियाँ और भी थीं; एक को भोगप्रियता तथा दूसरी को युद्धप्रियता कह सकते हैं। अवैदिक मतों ने संसार से पलायन का जो आदर्श रखा वह ब्राह्मण धर्म को ग्राह्य न था इसलिए इस युग में भोग्य वस्तुओं का निर्लिप्त भोग नेताओं का ध्येय बन गया। राजाओं के अन्तःपुर में न केवल एक से एक बढ़कर रूपवती कामिनी ही दिखलाई पड़ती थी, प्रत्युत विलास के सभी साधन—कला के सभी उपकरण—अमूल्य रत्न, प्रतिभाशाली व्यक्ति, अलौकिक अस्त्र-शस्त्र, देश-विदेश के अश्व आदि भी भरे रहते थे; और इसी सामग्री से उनकी महत्ता की माप होती थी; उत्सवों, त्यौहारों आदि पर इसका प्रदर्शन आवश्यक था; इसकी प्राप्ति तथा रक्षा के लिए प्राण तक त्याग देना अपव्यय न समझा जाता था। ध्यान रखना होगा कि राजपूत राजा विलासान्ध न थे, अपने पराक्रम से अर्जित वस्तु का भोग वे अपना कर्तव्य समझते थे, परन्तु अनुचित-उचित का उनको सदा ध्यान रहता था। राजपूतों ने पर-नारी पर कभी दृष्टि नहीं डाली, हाँ, किसी भी राजा की अविवाहिता कन्या को पराक्रम से जीतकर सहधर्मिणी बनाना उनका प्रिय विषय था। उनका विश्वास था कि पर-नारी की रक्षा से जय तथा पर-नारी पर कुदृष्टि रखने से पराजय होती है।[2]

युद्धप्रियता इन राजाओं का दूसरा गुण है, जो जितना अधिक विलासी उतना ही अपनी आन पर मर मिटनेवाला।[3] प्रेम निमन्त्रण पाकर जिस सुन्दरी को प्राप्त करने के लिए अपने प्राणों तक की बाजी लगा दी और अपने प्रिय सामन्तों को खो दिया उसकी पालकी राजप्रासाद तक पहुँच भी न पाई थी कि किसी शत्रु के अत्याचार का समाचार मिला, तत्काल ही आँखें लाल हो गईं, भुजदंड फड़कने लगे, घोड़े में एड़ लगाई और जुझारू बाजे बज उठे। वीरता का इतना सजीव रूप अन्यत्र कदाचित् ही मिले। शृंगार और वीर में कोई विरोध नहीं है, दोनों की सहप्रवृत्ति[4] जीवन की सूचक है, इन्द्रियभोगलिप्सा शृंगार नहीं है और बर्बरता को वीरता नहीं कह सकते, जिसमें जीवन

---

१. जैसा कि कालिदास ने दिलीप के विषय में कहा है—
प्रजानां विनयाधानाद् रक्षणाद् भरणादपि।
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः॥ (रघुवशम् १।१८)

२ परयोषित परसं नहीं, ते जीते जग बीच।
पर तिय तक्कत रैनदिन, ते हारे जग नीच॥ (पृ० रासो)

३. राज्य जाय फिर होत है, सिरिय जाय फिरि आय।
वचन जाय नहिं बाहुरं, भूपति नर्क पराय॥ (परमाल रासो, ३०८)

४. (क) वीर सिंगार सुमंत, कंत जनु रत्त वाम। (पृ० रा०)
(ख) श्रवन सुनं वर वीर रस, सिंधव राग अपार।
हरषि उठे दोउ तिहि समं, मिलन वीर शृंगार॥ (हम्मीर रासो, १४८)

होता वह समर में सन्यासियों के समान लिप्त भी रहता है और ज्ञानियों के समान उसका सुन्दर त्याग भी कर सकता है। शृंगार तथा वीर की यह सहप्रवृत्ति अवैदिक ग्रंथों में न थी।

## सामाजिक जीवन

उस युग में ईश्वर तथा भाग्य में अत्यधिक विश्वास किया जाता था, भाग्य बड़ा प्रबल है जो कुछ विधि ने लिख दिया है वह मेटा नहीं जा सकता[1], मनुष्य इसीलिए यह नहीं कह सकता कि कब क्या हो जावेगा[2], बड़े-बड़े बलवान् व्यथित हो गये हैं परन्तु विधि के सामने सबको झुकना पड़ा है। यही भाग्यवाद आगे चलकर जायसी तथा तुलसी में पग-पग पर मिलता है। परन्तु वीरकाव्य का भाग्यवाद व्यक्ति को अकर्मण्य नहीं बनाता, प्रत्युत फलाफल से निरपेक्ष होकर उत्साहपूर्वक[3] कर्तव्य की ओर प्रेरित करता है। इसी भाग्यवाद का फल था कि प्रत्येक राजपूत बिना आगा-पीछा सोचे ही रण-क्षेत्र में कूद पड़ता था और रक्त की नदी बहने लगती थी। प्राण-त्याग तो उस समय एक सामान्य विनोद मात्र था, जब दो व्यक्ति लड़ेंगे तो यह निश्चय है कि एक ही जीवित रहेगा[4], कोई भी जीवित रहे इसका कोई भी अन्तर नहीं। जगनिक ने क्षत्रियों की आयु १८ वर्ष ही मानी है[5], इसके उपरान्त वे वयस्क हो जाते हैं और किसी भी भिड़ंत में उनका शरीर खेत रह सकता है। बौद्ध लोग जीवन की अपेक्षा मृत्यु को अधिक सत्य मानते थे, अपने स्वभाववश राजपूतों ने यही सत्य सिद्ध कर दिखाया। कायरता एक कुलकलंक था, जिसमें सबसे अधिक लज्जा जननी को आती थी,[6] क्यों उसने ऐसे पुत्र को जन्म दिया जो कायर बनकर कृपण के समान अपने जीवन की रक्षा[7] करना चाहता है? वीरों का विश्वास था कि युद्धस्थल में अपने

---

१. विधिना विचित्र निरम्यो पटल, निमिष न इन लिखिव टरय। (पृ०रा०, २३७२)
 जु कछू लिखियो लिलाट सुखह अरु दुख समंतह।
 धन, विद्या, सुन्दरी, अग, आधार, अनंतह॥
 कलप कोटि टरि जाहि, मिटै न, न घटै प्रमानह।
 जतन जोर जो करै, रंचन न मिटै विनानह॥ (पृ० रासो)

२. जानै न कोय इह लोक में, कौन भेद कत सुज्झियं। (पृ० रासो, २४२५)

३. जब लगि पंजर सांस, ग्रास तब लगि ना छंडौं। (पृ० रा० २०४८)

४. यह प्रगट धत्त ससार महि, भिरै दाय, एकै रहै। (हम्मीर रासो, ११४)

५. बरिस अठारह छत्री जीवै, आगे जीवन को धिक्कार। (आल्हखंड)

६. (क) पुनि कही कन्ह नृप जंत सों, स्वामि रक्खि जिन तनु तजै।
  तिन जननि दोस बुधजन कहं, मुंछ धरत भुवख न लजै॥ (पृ० रासो)
 (ख) ता जननिय को दोस, मरत खत्री जो सचइय। (पृ० रासो, २०३६)

७. आल्हा की माता ने कहा था—
 सदा पुत्र जीवै न कोइ, भूतल की यह रग।
 जो भूपति भय मदमनि, आयसु करो न भग॥ (परमार रा०, ४७)

कर्त्तव्य का पालन करते हुए प्राण देने से जीव की मुक्ति हो जाती है,[१] इसलिए जब तक इस शरीर रूपी मन्दिर में आत्मा का निवास है तब तक इसको अपवित्र न बनने देना चाहिए—इसमें तेज[२] हो, साहस हो, अत्याचार-दमन[३] की शक्ति हो। प्राणों के निकल जाने पर फिर शरीर से कोई मोह नहीं रहता, इसलिए अपने निकटतम सम्बन्धी को वीर-गति प्राप्त करते देखकर राजपूत के मन में क्षोभ नहीं होता प्रत्युत उत्साह की मात्रा बढ़ जाती है।

वीरयुग में नारी के दो रूप मिलते हैं—वीरमाता और वीरपत्नी। वीरमाता का जीवन उस समय धन्य माना जायगा जब उसका पुत्र शत्रु से युद्ध करता हुआ विजयी होकर लौटे या स्वयं वहीं अपना शरीर त्याग दे, रण में सोये हुए पुत्र के लिए माता शोक न करेगी प्रत्युत उसकी वीरता का कीर्त्तन सुनकर मन में फूली न समावेगी। वीर-पत्नी का जीवन भी पति के साथ है तथा मरण भी[४], इसलिए पति की वीरगति का समाचार पाकर वह सानन्द शृंगार करके उसके समागम[५] के लिए स्वर्ग चली जायगी। जो पत्नी ऐसा नहीं करती (कदाचित् ही कोई राजपूत-बाला ऐसी हो) उसको नरक मिलता है।[६] उस युग में स्त्रियों से दूर भागनेवाली अवैदिक वृत्ति का पूरा विरोध हुआ,[७] और ऐहिक जीवन के लिए स्त्री का संग आवश्यक समझा गया।[८] महाकवि चंद ने संयोगिता के पूर्व-जन्म का वर्णन करते हुए बतलाया है कि स्त्री ने सुर, नर, असुर सबको मोह लिया है, स्त्री के कारण देवता मानव शरीर धारण करते हैं, और स्त्री के कारण ही वीर लोग मानव-शरीर को हँसते-हँसते त्याग देते हैं—

न्याय छुप्यौ मुनि रूप इन, सुरति प्रीय त्रिय आहि।

---

१. बहुरि न हसा पंजरह, जे पंजर तुटि धार। (पृ० रा०, १२१६)

२. रजवट चूरी-काच की, भग्गी फिरि न सँधाइ।
मनिया नाहीं लाख को, कीजै आँच तपाइ॥ (पृ० रा०, २४७४)

३. जा धरती को खाइ कै, मरै न जामै कोइ।
अंतकाल नर्कहि परै, जग मैं अपजस होय॥ (पर० रा०, ४०६)

४. हम सुक्ख दुक्ख बंदन समथ्य। हम सुरग बास छंडै न सथ्य॥
हम भूख प्यास अगमैं देव। हम सर समान पति हंस सेव॥ (पृ० रा० २१४७)

५. पूरन सकल विलास रस, सरस पुत्र-फल खानि।
अंत होइ सहगामिनी, नेह नारि को मानि॥ (पृ० रा० २०१२)

६. निहचै वेद नरक तेहि भाखै।
पिय को मरत त्रिया तन राखै॥ (पृ० रा० २५५६)

७. संसार त्रिया बिन नाहि होत।
सजोगि सकति सिव माँहि जोत॥ (पृ० रा० २१४७)

८. तुलना कीजिए—
कलत्रे गृहीर सुख, कलत्रे ससार।
कलत्रे हइते हय, पुत्र परिवार॥ (१६०)(कृतिवास: रामायण)

जा मोहे सुर नर असुर, रहे ब्रह्म सुख चाहि ॥
इनह काज सुर घरत, सूर तन तजत ततच्छिन ।(पृथ्वीराज रासो, १२४३)

इसमें सन्देह नहीं कि उस युग में नारी के प्रति एक दूसरी भावना भी यत्र-त्र सुनाई पड़ती है, वह आकर्षण का विषय न होकर घृणा का पात्र थी। नारी को बुद्धि में हीन[१], अविश्वास का पात्र[२], तथा पैर की जूती के समान[३] तुच्छ तक कह दिया गया है। एक बात अवश्य है कि नारी का जीवन अनिश्चित था, वह वीरभोग्या थी, उसको स्वयं ही ज्ञात न था कि कौन वीर उसको जीतकर उसका स्वामी बन जायगा, प्रायः वह पितृकुल के शत्रु के हाथ पड़ जाती थी और तब उसको अपने पितृकुल का कोई मोह न रहता था। बीसलदेव रासो में विरहिणी रानी ने अपने नारी-जन्म को बार-बार धिक्कारा है[४], जिसमें पति के साथ चैन से बैठने का भी अवसर नहीं मिलता। अन्य रत्नों के समान वीरयुग की नारी स्वामी की शोभा थी, जिसका भाग्य अन्य रत्नों के समान विपण्य तो न था परन्तु जिसका अस्तित्व पति के अस्तित्व का ही एक अंग था। उस युग में सामान्य नारी के प्रति भी आदर की ही भावना[५], मिलती है, नारी विशेष अर्थात् माता[६], तथा पत्नी के प्रति तो राजपूत के मन में पूजा के ही भाव थे।

---

१. सब त्रिया बुद्धि नीची गिनंत। मानै न सच्च जो फुरि भनंत। (पृ० रा० २१४७)

२. सांप, सिंह, नृप, सुंदरी, जो अपने बस होइ।
तो पन इनको अप्प मन, करो विसास न कोइ॥ (पृ० रा० २०६४)
सीता ने अग्निपरीक्षा के समय उलाहना दिया था—
पुरिस-णिहीण होंति गुणवंतिवि।
तियहे ण पत्तिज्जंति मरंति वि॥ (स्वयम्भू की रामायण)

३. हूं बरायो धणी मोकियउ रोस।
पांव की पाणही सूं कियउ रोस॥ (बीसलदेव रासो, ३३)

४. अी जनम कांई दीयो हो महेस। अवर जनम थारे घणा हो नरेस॥
रानह न सिरजी हरिणली। सूरह न सिरजी धोरा गाई॥
वन-खड कालो कोइलो। बइसतो अंब कइ चंप की डालि॥
(बीसलदेव रासो, ६२)

५. दि राजपूत ऑनर्ड हिज़ विमन एण्ड दो देयर लोट वाज़ वन ऑफ़ दि "मार्जिनल हार्डशिप" फ्रॉम दि बॅड्स टु दि कंमेनेशन दे होल्ड अनडरकुल करेज एण्ड डिटरमिनेशन इन टाइम्स ऑफ़ डिफिकल्टी एण्ड परफोर्म्ड डीड्स ऑफ़ वेलर विच आर अनपैरेलल्ड इन दि हिस्ट्री ऑफ़ दि वर्ल्ड।
(हिस्ट्री ऑफ़ मेडिविअल इण्डिया, पृ० १०)

६. दस मास उदरि धरि, वले वरस दस, जो इहाँ परिपालै जिवरी।
पूत हेत पेखणो पिता प्रति, वसो विसेखै मात वरी॥ ६॥
(वेलि क्रिसन रुकमणी री)

काव्य-परंपरा

यह ऊपर कहा जा चुका है कि वीरकाव्य ने संस्कृत काव्य-परम्परा को न अपनाकर 'असंस्कृत' काव्य-शैली को अपनाया। इसके अनेक कारण हो सकते हैं, जिनमें से मुख्य यह था कि वीरकाव्य लोककाव्य था परन्तु संस्कृत काव्य केवल विशेषज्ञों का ही विषय बन चुका था, दूसरे ब्राह्मण धर्म वालों ने भी यह जान लिया था कि यदि जनता को अपनी ओर खींचना है तो जनता के ही साहित्य को अपनाना होगा। इस युग के कवि केवल राजसभा के रत्न ही नहीं बने हुए थे प्रत्युत राज्य-व्यवस्था तथा युद्ध आदि में भी सक्रिय भाग लेते थे। इस युग का चारण राजा का मन्त्री, मित्र, पंडित एवं ज्योतिषी भी होता था तथा उसका स्वामि-भक्त सैनिक भी; एक हाथ में तलवार तथा दूसरे में लेखनी लेकर वह जन-जन में जीवन का संचार करने पर तुला हुआ था। यही कारण है कि हिन्दी-साहित्य में सबसे सजीव तथा स्वाभाविकतापूर्ण काव्य वीरकाव्य ही है, उसमें चमत्कार भी मिलेगा, परन्तु केवल उसी स्तर का जिसको कि सामान्य जनता भी समझ सके। वीरकाव्य मठों या राजसभाओं में बैठकर नहीं रचा गया, प्रत्युत उत्सव या युद्ध आदि के अवसरों पर गाया गया है इसलिए उसमें सरलता और स्वाभाविकता कूट-कूट कर भरी है। किसी भी साहित्य के प्रारंभिक काव्य जिन विशेषताओं से युक्त होते हैं, वे हमको रासो काव्य में भी पर्याप्त मिल जाती हैं।

रासो काव्यों की मुख्य विशेषता यह है कि वे किसी शास्त्रीय परंपरा के रूप मात्र नहीं हैं, वे दरबारी होते हुए भी यथार्थवादी हैं, काल्पनिक होते हुए भी ऐहिक हैं, ज्ञान-प्रदर्शन करते हुए भी पाण्डित्य से उबले नहीं पड़ते, तथा राजा-विशेष से सम्बन्ध रखते हुए भी युग-प्रतिनिधि हैं, वे राजकवियों के द्वारा लिखे गये थे फिर भी जनता के जीवन से उनका निकट सम्बन्ध है। इनको 'महाकाव्य' कहकर ही सन्तोष नहीं किया जा सकता, क्योंकि पंडित-समाज में महाकाव्य का जो लक्षण माना गया है वह इन पर नहीं घटता।[1] यदि तुलना करना आवश्यक ही हो तो शैली की दृष्टि से इनको रामायण, महाभारत, महापुराण आदि के समकक्ष रखा जा सकता है; क्योंकि वाल्मीकि, स्वयम्भू तथा कृत्तिवास की रामायणें तथा महाभारत एवं हिन्दुओं के पुराण तथा जैनियों के महापुराण, आदिपुराण आदि सभी काव्य लोक-साहित्य के वर्ग में आते हैं, विशेषज्ञ-काव्य के वर्ग में नहीं। वाल्मीकीय रामायण में यों तो केवल सात ही काण्ड हैं, परन्तु प्रत्येक काण्ड में कई-कई पर्व हैं, और पूर्वों का विभाजन सर्गों में हैं, प्रत्येक सर्ग को एक विशेष नाम भी दे दिया गया है जिसके समाप्त होने पर कवि ने बतला दिया है कि "इत्यार्षे रामायणे सुन्दरकाण्डे लंकापर्वणि सीताविषादो नाम षड्विंशः सर्गः", और काण्ड के समाप्त होने पर कवि बतला देता है कि "समाप्तोऽय अमुककाण्डः"। रासो काव्यों में काण्ड तथा सर्ग नहीं है, केवल पर्व हैं जिनको "समय" कहा गया है[2] और

---

१. देखिए "रासो-काव्य-शैली"।

(आलोचना की ओर) (परिवर्द्धित संस्करण, पृ० १२-२०)

[2] जैनों के चरितकाव्यों में "संधि" नाम है, तथा सूफियों के आख्यान-काव्यों में "खंड"। "संधियों" की संख्या ११२ तक मिलती है, तथा "खंडों" की ५७ तक।

जिनकी सम्या ६६ तक है। विभाजन की यह शैली रासो काव्यों की एक स्वकीय विशेषता है।

रासो काव्यों की दूसरी विशेषता वस्तु-वर्णन है, जो उनके प्रारंभिक काव्य होने का फल है। यह संभव है कि जिस भोज का वर्णन हो रहा है उसमें कवि स्वयं सम्मिलित न हो सका हो, या जिस युद्ध का चित्र खींचा जा रहा है उसमें वह स्वयं एक अंगरक्षक न रहा हो, परन्तु इस प्रकार के अनेक भोज और अनेक युद्ध उसने अपनी आँखों से देखे हैं, अतः अपनी प्रतिभा से वह पाठक के सामने एक ऐसा चित्र बनाता है जिसमें सूक्ष्म से सूक्ष्म बातों का ब्यौरा तथा प्रत्येक वस्तु का (भेदोपभेद सहित) यथाक्रम नाम आता चला जाता है। जिस चित्र के लिए दूसरे कवि अलौकिक कल्पना तथा अलंकारों की सहायता लिया करते हैं उसका मनोहर रूप रासो काव्यों में स्थूल सत्य तथा नाम-परिगणन[1] से ही निखर उठता है। वाल्मीकीय रामायण में भी जब कवि वर्णन करने लगता है तो नामों की एक लंबी सूची तैयार हो जाती है, हनुमान् जब अशोकवाटिका में पहुँचे तो उन्होंने कौन-कौन से तरुवर देखे इसका चित्र वहाँ देखने योग्य है; इसी प्रकार जब हनुमान् सीता की खोज करके लौटे तब वानरों ने किस प्रकार हर्ष मनाया—कुछ खाने लगे, कुछ हँसने लगे, कुछ गरजने लगे, कुछ गाने लगे, कुछ दौड़ने लगे आदि आदि—यह भी अनेक क्रियाओं की लंबी सूची है। स्वयम्भू ने अपनी रामायण में मनोमोदक भोज का जो वर्णन[2] किया है, या कृत्तिवास ने बँगला रामायण में दशरथ की बरात के वाद्यों[3] के नाम तथा गिनती[4] बताई है उसको पढ़कर एक ओर तो रासो काव्यों की परंपरा का ध्यान आ जाता है दूसरी ओर जायसी को फिर पढ़ने की इच्छा होती है। पृथ्वीराज रासो के ६३वें 'समय' में (पृ० १९९० से २००० तक) "पकवान और मिठाई

---

१. क्लासिकल संस्कृत साहित्य में वर्ण्य-विषय तो केवल "उज्जयिनी नाम नगरी" या "अच्छोद नाम सरः" (कादम्बरी) ही है परन्तु अप्रस्तुत सामग्री की कोई सीमा नहीं; रासो काव्यों में प्रस्तुत सामग्री ही इतनी संभावनातीत है कि अप्रस्तुत की आवश्यकता नहीं होती।

२. वड्ढिउ भोयण मोयण—सज्जइ। सक्कर—खंडेहि पायस—पयसेहि।
लड्डुव—लावण—गुल—इक्खुरसेहि। अल्लय—पिप्पली—मिरिया—मलयहि॥
केलय—णालेकर—जंबीरिह।......

३. पाखोयाज पञ्चाश सहस्र परिमाण।
तिन कोटि शिंगा राजे अति खरसान।
शतकोटि शंख भो घंटाजाल।
सहस्रकोटि शुनिते रसाल॥ (३३)
व विरत होता है तो अपनी असमर्थता से या पुस्तक के आकार पर दया

ते नाम नितान्त अज्ञाय। (५१)
ते [illegible] विस्तर॥ (५६) (कृत्तिवास)

वर्णन", "अचार वर्णन", "तरकारियाँ और गोरस वर्णन" तथा "दाल भाजी खटाई" आदि का इसी प्रकार का भाडार है।

रासो काव्यों में केवल वस्तुओं के नाम गिनाये गये हो, ऐसा ही नहीं, वहाँ पर सक्रिय चित्र भी वर्णन को मनोहर बना देते हैं: इस प्रकार के चित्र भोज या उत्सव आदि की अपेक्षा रणक्षेत्र में अधिक मिलते हैं, कहीं तलवारो की खटाखट है तो कहीं हाथियों की चिंघाड़, कहीं रक्त के परनाले हैं तो कहीं त्रस्त सेना की भगदड़ जिस प्रकार वस्तुओं के परिगणन को अत्युक्ति अथवा उदात्त कहके टाला नहीं जा सकता, उसी प्रकार इन सजीव एवं सक्रिय चित्रों को स्वभावोक्ति अलंकार के अन्तर्गत नहीं रख सकते। यह शैली वीरकाव्यों की परम्परा में पीछे तक चलती रही[1] और आठ सौ वर्ष उपरान्त 'सुजानचरित' लिखने वाले मथुरा-निवासी कवि सूदन की लेखनी से दिल्ली की लूट का प्रभावशाली चित्र इसी शैली के कारण चमक उठा—

करि-करि ललकारे गली-गल्यारे, तोरि किवारे पुरवारे।
गहि करनि पनारे, लहि उपरारे, उच्च अटारे पग धारे।
बज्जंत कुठारे, तत्त लठारे, पौरि दुवारे भुव पारे।
ऊँचे धरवारे खड़े पुकारे, हुवा कहा रे करतारे।
रव हाहाकारे घोर महा रे, बूढ़े-बारे चिक्कारे।
चिक्कारनु पारे धावत रारे, श्रारे जारे ले जारे।
लैके तरवारे देत धवारे, दिल्लीवारे बेजारे॥

इस स्थूल वर्णन का मुख्य कारण यह जान पड़ता है कि रासो काव्यों के विषय तथा पाठक दोनों ही कवि के सामने रहते थे—समकालीन राजा का तो वह वर्णन करता था और यह वर्णन होता था सामन्तों तथा प्रजाजनो के लिए। इसलिए ईश्वर, देवता, अवतार या महापुरुषों के वर्णन की अपेक्षा इसमें सजीवता अधिक मिलती है। इस वर्णन में पाण्डित्य का स्तर कुछ नीचा है, कारण हम ऊपर बतला चुके हैं कि इसके पाठक (अथवा, श्रोता) कुछ विशिष्ट सभासद नहीं थे प्रत्युत सामान्य सैनिक तथा समस्त प्रजावर्ग था।

### अप्रस्तुत योजना

वीरकाव्यों के सौन्दर्य-पक्ष का अध्ययन करते हुए हमको दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ दिखलाई पड़ती हैं—एक का उद्‌गम संस्कृत-साहित्य से है और दूसरी का लोक-साहित्य से, संस्कृत का प्रभाव शृंगार आदि कोमल रसो में अधिक मिलता है क्योंकि इनकी भोगभूमि कदाचित् राजसभा रही होगी, अन्यत्र 'प्राकृत' प्रभाव है क्योंकि वह जनसामान्य की वस्तु थी। संस्कृत में पंडित-परम्परा से सौन्दर्य-सम्बन्धी ऐसे नियम बने हुए थे जिनका पालन कवियों का कर्त्तव्य हो जाता था, उदाहरण के लिए किस ... के वर्णन के लिए किस अप्रस्तुत का उपयोग होना चाहिए, यह निश्चित था। रासो

1. तुलसी ने 'कवितावली' में लंका-दहन का सजीव चित्र इसी शैली पर तैयार किया है।

[illegible] । [illegible] ॥
[illegible] । [illegible] ॥
[illegible] । [illegible] ॥ ([illegible])

[illegible] आदि के लिए जिन [illegible] का उपयोग हुआ है वे संस्कृत साहित्य में [illegible] प्रसिद्ध थे । [illegible] हमारे [illegible] के [illegible] है । परन्तु एक विशेष बात यह है कि [illegible] विरोध, विषम, [illegible] कारण इन काव्यों का लोक-प्रसार ही है ।

दूसरी प्रवृत्ति का [illegible] ऊपर किया जा चुका है । सौन्दर्य-वृद्धि के लिए इन काव्यों ने एक प्रकार की अत्युक्ति को अपनाया है, जिसके कई रूप हैं जिनमें से मुख्य है 'संख्यात्मक अत्युक्ति', जिसमें वर्णन करते हुए वर्ण्य-वस्तु की ठीक-ठीक माप या मात्रा बतलाई जाती है । रासो काव्यों में इस अत्युक्ति का उपयोग वैभव-वर्णन, युद्ध-वर्णन तथा भोज-वर्णन तीनों ही स्थलों पर किया गया है । 'पृथ्वीराज रासो' के ६६वें समय में "शाहजादी की खातिरदारी" में कितना अन्नादि व्यय हुआ यह कवि ने ठीक-ठीक बतला दिया है², अन्यत्र घग्घर की लड़ाई के समय लूट में क्या-क्या और कितना कितना मिला इसकी चर्चा³ है, तो कवि नरपति नाल्ह यही बतलाते हैं कि राजा बीसलदेव के अभियान के समय उनके साथ कितने पैदल थे, कितनी

१. परमाल-रासो में भी इस प्रकार का सौन्दर्य द्रष्टव्य है—
अधरान रागु तंमोल झीम ।
जनु कमल मध्य दाड़िमय बीज ।
मुगताय जिन्त मृदु मद हास ।
संचाना चमकि जनु इंदु पास ।
झाल्हइ हन्त छवि परम पूर ।
मनु सिसिर मनहु उदयेग सूर ॥ (१६५)

२. सीधौ मन सै सच, साक पल्लव संलासम ।
दही-दूध अनपाह, घृत मन असी अनोपम ।
मैदा मन पंचास, बीस मन बेसन दीनौ ॥ (पृ० रा० २११८)

३. एक लक्ष्य बाजित्र, सहस तीनह मय मत्तह ।
तरल एक लोलार, तेज ऐराकी सत्तह ।
आराबी हय्यिनी, सत्त सै सत्त सु भारिय ।(६५४)

पालकियाँ थीं, और कितने हाथी थे—

आठ सहस नेजा-धणी, पालकी बैठा सहस पचास।
हाथी चाल्या डोढसौ, असीय सहस चाल्या केकाए॥

यह प्रवृत्ति पाली[1] तथा अपभ्रंश के काव्यों में बहुत पहिले ही प्रचलित थी और उन्होंने भी जनता के व्यवहार से इसको अपनाया होगा। पुष्पदन्त के 'महापुराण' में इसके अनेक सुन्दर उदाहरण मिलते हैं—

चउरासी लक्खइं कुजराहं। तेत्तिय सहसइं रहवराहं।
छण्णवइ सहासइं राणियाहं। बत्तीस रिणवहं संताणियहं।
सोलह सहसइ सिद्धह सुरहं। आणायराहं पंजलियराहं॥ (छत्तीसमो सन्धि)

अत्युक्ति का दूसरा रूप 'चित्रात्मक अत्युक्ति' में मिलता है, यहाँ न तो संख्या बतलाई जाती है और न ऊहा की सहायता लेनी पड़ती है, केवल वर्ण्य-वस्तु का चित्र खींचकर उसकी अभिव्यंजना पर जोर दिया जाता है। हिन्दी साहित्य की यह अत्युक्ति शैली आगे चलकर बिल्कुल लुप्त हो गई, यह अत्यन्त खेद की बात है। युद्ध की विकरालता का वर्णन यह बतलाकर भी किया जा सकता है कि उसमें इतने व्यक्ति, इतने हाथी-घोड़े मरे, और यह बतलाकर भी किया जा सकता है कि रक्त के नाले बहने लगे[2]—प्रथम को सख्यात्मक अत्युक्ति कहेंगे और दूसरे को चित्रात्मक, क्योंकि इसमें पाठक के सामने एक वास्तविक रूप आ जाता है जिसके द्वारा अभीष्ट अभिव्यंजना पर पहुँचना कठिन नहीं रहता। विचारमक में यदि खींचतान की जावे तो ऊहा बन जाती है जैसी कि फारसी के प्रभाव से आगे चलकर हिन्दी साहित्य में स्थान-स्थान पर दिखलाई पड़ी।

अत्युक्ति का सहारा लेते-लेते हमारे कवि कभी-कभी कल्पना-लोक में जा पहुँचते है, उस समय उनको इस संसार की विषमताओं तथा मात्राओं का ध्यान नहीं रहता।[3] परमाल-रासो के रचयिता ने नगर का वर्णन करते हुए सभी पुरुषों को स्वेच्छानुकूल भोग भोगनेवाले देवों के अवतार, तथा सभी रमणियों को मेनका से बढ़कर रूपवती बतलाया है, आगे चलकर जायसी ने भी ऐसा ही किया। "रावल जी की

---

१. श्री ईशानचन्द्र घोष लिखते हैं—
पालिग्रन्थकारेरा बहुसख्या द्योतनार्थ एक एकटा स्थूल संख्या निर्देश करइ पक्षपाती। जिनि धनी तिनि अशीति कोटि सुवर्णेर अधिपति बलिया वर्णित, जिनि आचार्य तिनि पञ्चशत शिष्यपरिवृत, जिनि सार्थवाह तिनि पञ्चशत शकट लइया वाणिज्य करिते जान। (उपक्रमणिका, जातक, प्रथम खण्ड)

२. लोहान तनो बज्जे सहरि, कोउ हल्ले, कोउ उत्तरं।
परमाल रुधिर चल्ले प्रबल, एक घाय एकह मरं॥

३. सवे भूसुर इच्छ को भोग पावें। जवें इंदिरापत्ति चित्तं लगावें॥
धरें रूप जोवान को रूप सारी। तहाँ मेनिका आदि दें रूपधारी॥

तिररारी" वाले उदाहरण में कवि को यह ध्यान नही रहा कि जिस भोज मे पांच
। मसाला, पचास मन मैदा तथा बीस मन बेसन लगा होगा उसमें अस्सी मन घी नही
। सकता। इसी प्रकार 'आल्हखंड' में[1] आल्हा-ऊदल की खिचड़ी मे जितनी हींग
गी बतलाई गई है उस पर विश्वास तो होता ही नहीं, पढ़कर केवल हंसी आती है।
रन्तु ऐसे उदाहरण इन काव्यों में अधिक नही हैं। हां, वैभव के वर्णन में ये कवि
र्ण, चन्दन, हीरा तथा पन्ना के बिना[2] चलना ही नहीं सीखे।

अत्युक्ति के अनन्तर वीरकाव्यों का तीसरा प्रिय प्रसाधन वह है जिसको आचार्य
ल 'ध्वन्यर्थव्यञ्जना' कहा जाता है, इसका व्यवहार भी अपभ्रंश काव्यों में पर्याप्त
मात्रा में मिलता है, दोनो ही स्थलो पर शृंगार रस में भी[3] और वीर रस में भी।
ुद्धस्थल में उत्साहित करने के लिए सिंहनाद कितना काम करता है यह सभी जानते
, और खड्गो की खटखटाहट, बाणो की सरसराहट, एवं घोड़ो की हिनहिनाहट का
ी प्रभाव सर्वविदित है; दूसरी ओर सभी रसिक जानते हैं कि नूपुरो की छन-छन,
ायल की झन-झन तथा किंकणी की कण-कण में क्या संदेश छिपा रहता है। रासो-
ाव्य नाद[4] को अधिक पहचानता था, इसलिए उसमें नाद के द्वारा ही अर्थ तक पहुँचाने
ाली सर्वजन-सुलभ ध्वन्यर्थव्यञ्जना की शैली के असंख्य उदाहरण मिलते हैं—

(१) झननं झनन भय नूपुरयं।
खनन खन चूरिय भूरि भय॥ (परमालरासो—शृंगार)

(२) हहकंत कूदंत नंचे कमंध। कडक्कंत बज्जंत छुट्टंत सधं।
लहक्कत लूटत तूटत भूमं। भुकंते धुकंते दोऊ वग्ग भूमं॥
(पृ० रा० २११०)

---

१. आल्हा-ऊदल की खिचड़ी मां, परिगै सवा लाख मन हींग।

२. (क) चदन काठ को मांडहो, सोना की चोरी, मोती की माल।
(बीसलदेव रासो, २२)

(ख) चन्दन पाट, कपाट ई चन्दन।
खुम्भी पनां, प्रवाली खम्भ। ३६। (वेलि क्रिसन रुकमणी री)

३. सहलह सहलह सहलहए उर मोतिय हारो।
रणरण रणरण रणरणइ पग नूपुर सारो।
जगमग जगमग जगमगै कानहि वर कुंडल।
झलमल झलमल झलमलै .गु)

४. युद्धस्थल की ध्वनियों
झमक्कं-
सनक्कं

प्रयोग होना

'कड़खंत' 'खड़खंत', 'तूटंत' आदि ऐसे शब्द हैं जिनको सुनकर ही उनकी क्रिया का चित्र नेत्रों के सामने आ जाता है; इनसे मिलते-जुलते शब्द 'हहकंत' (हाहाकार करते हुए), धजंत (बजते हुए) आदि भी अपेक्षित भाव की उत्पत्ति में सहायक हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थितियों के कारण वीरकाव्यों में संस्कृत काव्य-परम्परा का अधिक प्रभाव नहीं पड़ सका है, और न इनमें पाण्डित्य को ही प्रोत्साहन मिल पाया है; इनमें वर्णन तथा नाद की ही प्रधानता है, और किसी न किसी रूप में अत्युक्ति ही इनका प्राण है। अत्युक्तियों में अलौकिकता का एक पुट सर्वदा रहता है, जिसको आज का बुद्धिवादी आलोचक कल्पना की व्यर्थ उड़ान ही कहेगा, परन्तु जो उस समय की जनता में जीवन भरने के लिए परम आवश्यक था। चन्द कवि ने कुमारी संयोगिता के उत्तरोत्तर अंग-विकास का वर्णन करते हुए बतलाया है कि दूसरी बालाएँ जितना एक दिन में बढ़ती हैं उतना यह एक घड़ी भर में बढ़ जाती है और दूसरी बालाएँ जितना एक मास में बढ़ती हैं उतना यह रूपवती एक पल में ही बढ़ जाती है[1], 'राठौड़राज प्रिथीराज' ने लगभग इसी बात को अपनी नायिका के विषय में इस प्रकार कहा है—

अनि वरिस बधं, ताइ मास बधं ए,
बधै मास ताइ पहर बधन्ति ।१३। (वेलि क्रिसन रुकमणी री)

दूसरा उदाहरण विरह की उस दुर्बलता का लिया जा सकता है, जिसमें वामांग की अँगूठी दक्षिण हाथ का कंकण बन गई थी, और जिसका उल्लेख 'संदेश रासक' के रचयिता कवि अब्दुर रहमान ने[2] भी किया था, तथा आगे चलकर केशव तथा तुलसी ने भी। परन्तु नरपति नाल्ह की बात सीधी-सी है वह यह नहीं कहता कि अँगूठी अँगुली में से[3] खिसककर पहुँचे में आ गई, प्रत्युत उसका जोर कलाई की क्षीणता पर है—अँगूठी भी अब उसमें आने लगी है इतनी है दुर्बलता—

डावा हाथ को मूदड़उ,
आवण लागो जीवणी बाँह।[4] (बीसलदेव रासो, ७५)

इसका अभिप्राय यह समझ लेना चाहिए कि वीरकाव्यों के वर्णनों में गम्भी-रता कम है, प्रत्युत अनेक स्थलों पर सीधे-सादे शब्दों में ही हृदय तक पहुँचने की शक्ति है, फलत. इन काव्यों में सूक्तियाँ भी बिखरी पड़ी हैं। इन पंक्तियों में या तो [भा]रतीयता की दार्शनिक छाप मिलेगी, या व्यावहारिक नीति—

---

१. बड्ढे बाल जो दीह, घरिय सो बड्ढे स सुन्दरि।
और बड्ढे इक मास, पाल बड्ढे रस-गुंदरि॥ (१२६०)

२. सन्देसड़उ सवित्थरउ, पर मइ कहण न जाइ।
जो कणंगुलि मूंदडउ, सो बाहडी समाइ।

३. तुम पूछत कहि मुद्रिके मौन होति यहि नाम।
कंकन की पदवी दई, तुम बिन या कहँ राम। (रामचन्द्रिका)

४. डावां=वाम, मूदड़उ=अँगूठी, जीवणी बाँह=सीधा हाथ।

(१) [illegible] ।
[illegible] ॥ (पृ० रा० १६८४)
(२) [illegible] ।
[illegible] ॥[2] (बी० रा० ३७)

दृष्टान्त [illegible] ६६वें समय में हम्मीर से जो बातें की गई हैं उनमें अलंकारों का चमत्कार तो [illegible] नहीं, 'सुर देवी हम्मीर' शब्द की बार-बार आवृत्ति भी है, फिर भी इनमें [illegible] अलंकार नहीं—किन्तु [illegible] को सोचकर मति से दे [illegible] है, बार-बार [illegible] इसी बात पर जोर देता है कि समय फिर नहीं मिलेगा एक बार अच्छी भाँति सोचकर अपने कर्तव्य का निश्चय कर लो—

इन देवी हम्मीर, नहीं दोजुन मतीजै ।
इन देवी हम्मीर, हिय भ्रम्मह संचीजै ॥
इन देवी के लिए, चर निधर जेम उँभारे ।
इन देवी हम्मीर, सूर क्यों रयार संभारे ॥ (२२२२)

पृथ्वीराज रासो

वीरकाव्यों में सबसे पहिले हमारा ध्यान 'पृथ्वीराज-रासो' की ओर जाता है जो सबसे प्राचीन तो नहीं परन्तु सबसे उत्कृष्ट रचना है। इस ग्रंथ में ऊपर कही हुई दोनों ही प्रवृत्तियों का भली भाँति विकास हुआ है, और सम्प्रदाय-परम्परा से प्राप्त सामग्री अन्य ग्रंथों की अपेक्षा यहाँ परिमाण में भी अधिक है तथा मूल्य में भी। वस्तुतः यह ग्रंथ एक महोदधि है[3] जिसकी भिन्न-भिन्न प्रकार की तरंगें भिन्न-भिन्न रुचिवाले पाठकों को सम्मत कर सकती हैं। पृथ्वीराज रासो में सबसे स्पष्ट दीखनेवाले अलंकार सादृश्यमूलक हैं, विरोधमूलक उक्तिमूलक अथवा शृंखलामूलक अलंकारों का अभाव है, जनसाधारण का रंजन सादृश्य से ही अधिक होता है दूसरे चमत्कार बुद्धिसाध्य है।

सादृश्यमूलक अलंकारों में भी भरमार 'उपमा' की है। परन्तु 'उपमा' शब्द को देखकर ही उपमा अलंकार न समझ लेना चाहिए, व्यवहार की भाषा में 'उपमा' शब्द का अर्थ "सादृश्य" मान लिया जाता है। 'उपमा कालिदासस्य' कहनेवाले विद्वानों ने भी

---

१. अग्नि से जले हुए वृक्ष पर फिर से नई कोंपलें आ जाती हैं, परन्तु वचनदग्ध (जीभ का जला हुआ) फिर नहीं पनपता।

२. तुलना कीजिए—
तीयिनाल चुट्टपुन उल्लाडम आरादे ।
नायिनाल चुट्ट वडु ॥ (तिरुक्कुरल)
(अग्नि से जला हुआ घाव समय पाकर भर जाता है, परन्तु वाणी का घाव सदा ही पीड़ा देता रहता है।)

३. (क) इह ग्रंथ उदधि लहरीत रंग । बाचत सुनत उपजे सुरंग ॥ (२५०५)
(ख) कवि-समंद कविचन्दकृत मुगति-समप्पन ग्यान ।
राजनीति-बोहिथ, सुफल—पारउतारण—पान ॥

'उपमा' शब्द का प्रयोग एक व्यापक—सादृश्य-प्रधान चमत्कार—अर्थ में ही किया है, आगे चलकर गोस्वामी तुलसीदास ने "उपमा एक अभूत"[1] कहकर संभावना को भी 'उपमा' शब्द से व्यक्त किया है। यही बात पृथ्वीराज रासो में दिखलाई पड़ती है, चंदकवि ने उत्प्रेक्षा (वस्तूत्प्रेक्षा) को ही अधिक अपनाया है, परन्तु उस सादृश्य को 'उपमा' नाम दिया है।[2]

गोस्वामी जी ने जहाँ उपमा के नाम से 'उत्प्रेक्षा' का व्यवहार किया है वहाँ अप्रस्तुत कल्पना में भी कल्पित हुआ करता है—अर्थात् उस अप्रस्तुत का अस्तित्व कहीं भी नहीं होता और न कहीं हो सकता है। गीतावली के ऊपर वाले उदाहरण में प्रस्तुत विषय है आभूषणों से युक्त राम के शरीर पर पीताम्बर, और अप्रस्तुत है बिजली का नील गगन के तारों को ढक लेना, बादलों से रहित नील गगन में तारे अवश्य चमकते हैं परन्तु बिजली वहाँ नहीं पहुँच सकती क्योंकि बादलों के बिना बिजली का अस्तित्व असंभव है; कवि ने यह असंभव कल्पना प्रमादवश नहीं की प्रत्युत जान-बूझकर की है जैसे कि "तजि सुभाव" से स्पष्ट हो जाता है। चंदकवि ऐसी असंभव कल्पना का प्रेमी नहीं, क्योंकि वह इसी लोक का व्यक्ति था और इसी लोक के चित्र खींचकर प्रभावित किया करता था। यौवन का विकास कुच, नितंब, कटि आदि कुछ विशेष अंगों में पहिले लक्षित हुआ करता है, और ज्यों-ज्यों यौवन का विकास होता है त्यों-त्यों वे भी बढ़ती जाती हैं; संयोगिता की वेणी बढ़कर के उसके उभरे हुए नितंबों पर पड़ी हुई है, कवि ने इस सौन्दर्य के लिए बड़ी सुन्दर संभावना की है।[3] वह कहता है कि नायिका का शैशव चला गया और यौवन आगया इसलिए इस नवीन अधिकारी (जिसका निवास नितम्ब-गढ़ है) ने उस सुन्दरी की लगाम अपने हाथ में ले ली है—अब उस सुन्दरी पर यौवन का ही शासन होगा। अन्यत्र युद्ध-स्थल में बलवान् योद्धाओं के कवच कटकर गिर पड़े और अंगों से गाढ़ा रक्त भरपूर बह निकला, कवि ने इस सौन्दर्य के लिए यह संभावना की है कि मानो रंगरेज के घर माठ फूट जाने के कारण गहरा लाल रंग नालियों में होकर अकस्मात् बह निकला हो। रक्त की लालामी, अधिकता तथा गाढ़ापन तीनों की कितनी सफल व्यञ्जना है—

रुधी घट्ट ज्यों फुट्टि सन्नाह सारी।
तिनंको उपम्मा कबीचंद धारी।

---

१. उपमा एक अभूत भई तब, जब जननी पट पीत ओढ़ाए।
*नील गगन पर उडुगन निरखत, तजि सुभाव मनो तड़ित छपाए॥*
(गीतावली, बालकाण्ड, २३)

२. उप्पमा चंद जंपै सु अच्छ। (१०२२)
सो ओपम कबिचंद। (१०२३)
दिखि सेन तिनं उपमा सु करी। (१०३७)
सो कवि इह उप्पम कही। (१२६५)

३. लग्गे नितंब वेनिउ बढ़ि, सो कवि इह उप्पम कही।
संसव पयान कं करतही, कामय वग्गो कर गही॥ (१२६५)

[illegible] । 
[illegible] । (१३६६)

[illegible] है । [illegible] ऐसी [illegible] है [illegible] आधार [illegible] पड़ित है [illegible] को बड़ा प्रभावित करता है । [illegible] है [illegible] —

[illegible] । मनो [illegible] गिरं [illegible] मूरं ॥
[illegible] । मनो [illegible] पिढं कुमारं उतार ॥
[illegible] । मनो डोरि टूट्टी रमंवाय थंगं ॥(१३७६)

ये सभी सम्भावनाएँ बार-बार भी दिखलाई पड़ती हैं, कुमार तथा उनके चक्र वाली [illegible] को दूसरे [illegible] ने भी 'पूर्व' अपनायी है । वर्ण-साम्य (आकार या आकृति का साम्य नहीं) के आधार पर यह सम्भावना देखने योग्य है—

निसि घट्टिय, घट्टिय तिमिर, दिसि रत्ती पवनाइ ।
मंगल में जुवन बढ़, तुच्छ तुच्छ दरसाइ ॥ (१०४१)

इस प्रकार की 'उत्प्रेक्षाओं' का एक फल यह हुआ कि आगे चलकर तुलसी जैसे कवि भी "सोवत लखन सीया रघुबीरहि । ज्यों अविवेकी पुरुष सरीरहि ॥" लिखने लग गये । बात यह है कि उपमा तथा उत्प्रेक्षा अलंकारों में जो संभावना होती है वह वस्तुगत होती है वाक्यगत नहीं; जहाँ दो वाक्यों को रखा जाता है वहाँ चमत्कार दोनों वाक्यों की क्रियाओं में होता है उनसे संबंधित व्यक्तियों या वस्तुओं में नहीं, इसी हेतु उपमा अलंकार का लक्षण बतलाते हुए एक वाक्य[2] का होना आवश्यक माना गया है, जहाँ साम्य भिन्न वाक्यों में दिखलाया जाता है वहाँ उपमा न होकर दूसरा अलंकार होगा, यदि उत्प्रेक्षा के लक्षण में भी एक वाक्य का होना आवश्यक ठहराया जाय तो कुछ कठिनाइयों से छुटकारा मिल सकता है । युद्ध-स्थल में अश्वों की चंचलता का वर्णन करते हुए कवि लिखता है—

---

१. कुछ अन्य परिचित अप्रस्तुतों को देखिए—
(क) गहि पाइ भुम्मि पटकं जु फेरि ।
घोबी कि वस्त्र सिल पिट्ट सेर ॥
(पैर पकड़कर शत्रु को भूमि पर इस प्रकार पटक देते हैं जिस प्रकार धोबी वस्त्र को पकड़कर पत्थर पर दे मारता है)
(ख) लगै गुर्ज सीसं दुअं हथ्थ जोरं ।
दधी भाजनं जानि हरि ग्वाल फोरं ॥
(दोनों हाथों से शत्रु के सिर को इस प्रकार फोड़ देते हैं जैसे कृष्ण दधि लूटते हुए मटकी फोड़ डालते थे ।)

२. साम्य वाच्य मवैधर्म्यं वाक्यैक्य मुपमा द्वयोः । (साहित्यदर्पण)

हिन्दी-काव्य और उसका सौन्दर्य

कवीचंद गाहं ॥

घनं अश्व फेरं चलै अश्ववाहं । तिनं की उपम्मा कवीचंद गाहं ॥
ग्रहं पत्ति आगे रहै ज्यों कुलट्टं । चित्त वृत्ति चल्लै अग्गं स्वामि घट्टं ॥(१०४२)

अश्वारोही के नियन्त्रण रखने पर भी चचल अश्व चलायमान हो जाते है जिस प्रकार कि घर में पति के सम्मुख रहने पर भी कुलटा स्त्री का चित्त चंचल बनकर पर-पुरुष में पहुँच जाता है । यहाँ साम्य का आधार है "चलै" क्रिया (अश्वपक्ष में भी तथा वि वृत्ति पक्ष में भी), शेष सामग्री में साम्य नहीं है—अश्व तथा कुलटा, एवं अश्वारोही तथा कमजोर पति मे समानता दिखलाना कवि को अभीष्ट नहीं जान पड़ता ।[1]

हमारे कवि का मौलिक सादृश्य तो मनोहर है ही कवि-परंपरा का सादृश्य भी परम रमणीय है; शृगार की कोमल सामग्री में उसने अप्रस्तुत की योजना बड़ी स्वाभाविक बना दी है । कामिनी को कनकयष्टि कहा जाता है और वेणी को सर्पिणी बतलाना भी कवियों का प्रिय रहा है; परन्तु केशपाश को खोलकर खडी हुई सुन्दरी के चित्र में चदकवि ने इन दोनो संभावनाओ को मिलाकर एक रमणीय रूप पाठको के सामने प्रस्तुत किया है—

बाला बेनी छोरि करि, छुट्टे चिहुर सुभाय ।
कनक-थंभ तैं ऊतरी, उरग-सुता दरसाय ॥ (२५वाँ समय)

यहाँ 'ऊतरी' तथा 'उरग-सुता' पर भी ध्यान देना होगा । उतरने का अभिप्राय यह है कि नागिनी का फण नीचे को है, फण में जिह्वा आदि के कारण विस्तार होता है और चोटी में भी नीचे की ओर कुछ चीजें गूँथ ली जाती है; साथ ही यह भी व्यञ्जना है कि नायिका अभी 'बाला' है इसलिए उसकी वेणी अभी और भी बढेगी (सर्पिणी पूरी नही उतर पाई है); सर्पिणी न कहकर 'उरग-सुता' कहने से इमी भाव की व्यञ्जना होती है । अन्यत्र वय.सधि का वर्णन करते हुए एक नायिका को 'घरियार'

१. रासो ग्रंथों में वीर और शृंगार की सामग्री परस्पर में प्रस्तुत और अप्रस्तुत भाव से आई है; कारण यह कि रासोकाव्यकार शृंगार-विविक्त वीर या वीर-वर्जित शृंगार को अपूर्ण समझता था । वीर आदि रसों में अप्रस्तुत रूप से प्रयुज्यमान कुलटा, मुग्धा, कुलबधू आदि की क्रियाएं बड़ी मनोहर लगती हैं—

(क) यों आतुर रत्ते लग-मग्गं ।
ज्यों कुलटान छैल-मन लग्गं ॥
(वे तलवार से, आतुर होकर, इस प्रकार अनुरक्त हैं, जैसे छैलों का मन कुलटाओं में लगता है ।)

(ख) सार सार मच्ची कहर, दोउ दलनि सिर संधि ।
प्रौढा नायक-छयल रमि, प्रात न बंछै संधि ॥
(दोनो दलों में घमासान युद्ध हो रहा है, वे सन्धि नहीं चाहते; जि[illegible] प्रकार कि प्रौढा नायिका और छैल नायक रमण में प्रलिप्त होकर प्रात.[illegible] की इच्छा नहीं करते ।)

ता दिया है[1], जिसके नेत्र स्नेह-वारि से उसी प्रकार डूबते (तथा रिक्त होते) रहते हैं जिस प्रकार कि घड़ियाल की घड़ी।

यह दुहराना आवश्यक-सा जान पड़ता है कि चंदकवि का सादृश्य पर असाधारण अधिकार है, उसका क्षेत्र बड़ा व्यापक था और युग की प्रवृत्ति का ध्यान रखते हुए उसने अपने अप्रस्तुत व्यापक जीवन से लिए हैं। युद्ध-स्थल की समानता कहीं यज्ञ-स्थल से है कहीं पावस[2] ऋतु से, और कहीं रत्नाकर से[3], तो कभी सेना को पारधि[4] बतलाया है और कभी सर्प[5]। इस प्रकार के सभी वर्णनों में "उपम्मा" शब्द का संयोग है, तथा "मनो" वाचक शब्द बनकर आया है। पावस को अप्रस्तुत तो इतने स्थलों पर बनाया गया है कि उनकी गिनती नहीं हो सकती[6], उस परम्परा के दूसरे काव्यों में भी ऐसी प्रवृत्ति है[7], जिससे जान पड़ता है कि वीरों में पावस को अप्रस्तुत बनाने की एक सामान्य प्रथा रही होगी। यह तो निश्चय है कि ये लम्बे-लम्बे सादृश्यप्राण वर्णन युद्ध-स्थल, सेना, युद्ध आदि वीर रस के स्थलों पर ही हैं, परन्तु इन वर्णनों में अलंकार कौनसा माना जावेगा? कवि ने प्रायः "उपम्मा" शब्द का प्रयोग किया है, "मनो" तथा "जनु" से उत्प्रेक्षा जान पड़ेगी, परन्तु प्रस्तुत-अप्रस्तुत में अंग-प्रत्यंगों की यथा-नियम समानता देखकर सांग रूपक की-सी गंध आने लगी है। व्यवहार में जिस प्रकार प्रत्येक सादृश्य (उपमा हो या उत्प्रेक्षा) 'उपमा' ही कहलाता है, उसी प्रकार प्रस्तुत-अप्रस्तुत में अंग-प्रत्यंगों की समानता दिखलाते हुए सादृश्य कथन "रूपक बाँधना" कहलाता है, वाचक शब्दों की ओर ध्यान नहीं दिया जाता; इस हेतु इन स्थलों पर हम भी "रूपक बन्ध" नाम को अधिक उपयुक्त समझते हैं, सांगोपांगता रूपक का ही विशेष गुण है इस बात पर ध्यान देना चाहिए। लोक-साहित्य में रूपक का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान रहा है, यह बात भक्तिकाव्य के अध्ययन से भी प्रत्यक्ष हो जाती है।

चंदकवि को सागरूपकों से भी प्रेम था, उसके यहाँ, वीरकाव्य की परम्परा के अनुसार प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत में से एक शृंगार रस का होता है और दूसरा वीर रस का। कवि युद्ध का वर्णन करते हुए रति का ध्यान दिला देता है और रति का वर्णन करते हुए युद्ध का (दोनों उत्साह के व्यंजक हैं)—

> साज गट्ठ सोपंत, ग्रहिय रद सन दक रज्जं।
> अधर मधुर दपतिय लुटि धव ईव परज्जं।
> परस प्ररस भर धंक, लेंत-परजंक पटक्किय।
> भूषन टूटि कवच्च, रहे अध बीच सटक्किय।

---

1. घर संतव यच्छर नहीं, जोबन जल धर मंत।
   घाल घरी घरियार ज्यों, मेह नीर बुड़ि नैन॥ (१०८८)
2. पृ० १०६२।
3. पृ० १०७३।
4. पृ० १००१।
5. पृ० १००१।
6. पृ १००१, १०३३, १०६२ आदि।
7. परमाल रासो पृ० ४१५; वेलि क्रिसन रुकमणी री पृ० ११७।

नीसान थान नूपुर बजिय, हाक हारा करपत चिकुर।
रति याह समर सुनि ईछनिय, कोर कहत बत्तिय गहर। (१६७६)

..ग उदाहरण में 'तेल-परजंक', 'भूषन-कवच्च', 'नीसान-नूपुर', तथा 'हाक-हार' आदि ..यंगो में प्रस्तुत-अप्रस्तुत की भावना देखकर 'रति-समर' में सांग रूपक की झलक आने लगती है। परन्तु कवि का ध्यान क्रिया-साम्य पर अधिक है—रासो ग्रन्थ वस्तु तथा गुण की अपेक्षा नाद एवं क्रिया को अधिक पहिचानते थे। रति में लज्जा का लोप हो जाता है युद्ध में भी कुछ वस्तुएँ लुप्त हो जाती हैं (कौनसी वस्तुएँ ? इससे कोई मत-लब नहीं); रति में अधररस की लूट हुई, युद्ध में भी लूट होती है (किसकी ? इसकी आवश्यकता नहीं), 'लोप होना' तथा 'लूट होना' ही साम्य का आधार है। रति में नायक नायिका को अंक में भरकर पर्यंक पर पटक देता है, युद्ध में भी एक योधा दूसरे योधा को धर पटकता है, यही 'पटकना' क्रिया साम्य का आधार है, अन्यत्र भी साम्य क्रियाओं पर आश्रित है।

ऊपर हमारा ध्यान वीरकाव्यों की ध्वन्यर्थ व्यञ्जना की ओर गया था, पृथ्वी-राज रासो में इसकी भरमार है, साथ ही ध्वनि मात्र का भी बड़ा आग्रह है, प्रायः अनु-स्वारों का प्रयोग तथा वर्णों का द्वित्व इसके साधन हैं जहाँ ध्वन्यर्थ की व्यञ्जना न हो वहाँ भी ध्वनि एक अपेक्षित वातावरण के निर्माण में बड़ी सहायक होती है। अन्य वीरकाव्यों की भाँति पृथ्वीराज रासो में अत्युक्तियाँ भी असंख्य हैं, परन्तु इसकी रूपा-त्युक्तियों की एक विशेषता यह है कि वे व्यञ्जनाप्रधान हैं—उनके अभिधेय अर्थ में तो कोरी कल्पना ही मिलेगी परन्तु अभिप्रेय अर्थ बड़ा मार्मिक है। संयोगिता के रूप का वर्णन करते हुए तोता बतलाता है कि उसका शरीर इतना सुन्दर है कि हाथ से छूते ही मैला हो जाने की आशंका होती है—

सुनि ईछिनि बर जोइ।
कर छुवत मैला होइ॥

पिछली पंक्ति कहावत के रूप में अभी तक जनसाधारण में प्रचलित है जिसके द्वारा केवल रमणी की ही नहीं वस्तुओं की आभा का भी वर्णन किया जाता है। चंदकवि ने एक स्थल पर बतलाया है कि जब दम्पति आपस में बातें करते हैं तब पति के मुख की भाप पत्नी के दर्पण जैसे आनन पर जाकर जम जाती है; इस वर्णन में रमणी के आनन की चमक तथा शीतलता दोनों की व्यञ्जना होती है साथ ही नायक के श्वास में गर्मी उसके यौवन तथा बल की द्योतक है—

मुख कहत कन्त सु बत्त। तिय बदन घूम सरत्त॥
सुनि कहत ओपम ताइ। मुख संम द्रप्पन झांइ॥ (१६८१)

चदबरदाई कल्पना का भी बड़ा धनी था। इसमें सन्देह नहीं कि उस..
..श-पाताल के कुलावे नहीं मिलाये, परन्तु पुरानी बात को नवीन प्रकार से कह..
..ेय बनाने की जो कला विद्यापति की कुंजी है वह चंदकवि में पाई जाती ..
..यिका के स्तन-युग्म को ऐरावत के समान तथा उस पर बने नखचिन्हों को अकुर..
..क कहना पुरानी परिपाटी है, चंद ने इसको एक नया रूप दे दिया है। नन्दन क..

को छिन्न-भिन्न कर देने वाला इन्द्र का मदोन्मत्त हाथी ऐरावत भयभीत हो गया और उसकी हृदयरूपी रसनदी में छिपकर विहार करने लगा, स्तन-युग्म उस हृद-नद से बाहर निकला हुआ कुम्भस्थल है जिस पर मदजल की श्यामता दिखाई पड़ रही है, परन्तु काम्य में कुछ और ही लिखा था रति के समय (इन्द्र के अवतार) पृथ्वीराज ने अपने नखांकुश से उस कुम्भस्थल को विदीर्ण कर दिया—

ऐरापति भय मानि, इंद्र गज वाण प्रहारं।
उर संजोगि रस-नद्दि, रह्यो दबि करत विहारं।
कुच्च उच्च जनु प्रगटि, उकसि कुम्भस्थल आइय।
तिहि ऊपर श्यामता, दान सोभा सरसाइय॥
विधिना निमंत मिट्टत कवन, कीर कहत सुनि इंछनिय।
मनमथ्य समय प्रथिराज कर, करजकोस अकुस बनिय॥ (१६८०)

## परमाल रासो

वीरकाव्य लिखने वालों का नेता चंदबरदाई था, जो कुछ उसने अपने रासो में लिखा प्रायः उसी का अनुकरण दूसरे कवियों ने किया, और जितना उसने लिखा उतना दूसरे न लिख पाये। इसलिये जो प्रवृत्तियाँ सामान्यतः सभी वीरकाव्यों में पाई जाती हैं उनके अतिरिक्त यदि कुछ विशेषताएँ मिलती हैं तो केवल पृथ्वीराज रासो में हीं। परमाल रासो के विषय में भी यही नियम ज्यों का त्यों लागू होता है। इसमें वर्णनों की उसी परम्परा का निर्वाह है, अत्युक्ति का बोलबाला है, नाम तथा संख्या का आग्रह है, चित्र खींचने की ओर झुकाव है, नाद का आदर है तथा क्रिया का सम्मान है। सादृश्य से प्रेम तथा शास्त्रीय चमत्कार का अभाव मिलेगा। वीर आदि रसों में जनप्रिय सामग्री इस काव्य में भी दिखलाई पड़ती है। सेल[1] के लगने से छाती फटने तथा रक्त बहने का वर्णन करते हुए कवि ने यह सम्भावना की है कि मानो जावक[2] के माठ के टूटने पर नालियों में होकर जावक वह निकला हो, इस प्रकार की कल्पना हम ऊपर भी देख चुके हैं परन्तु केवल लाल रंग न कहकर 'जावक' कहने से एक व्यञ्जना वैधव्य की भी होती है, क्योंकि जावक के पात्र का फूट जाना सौभाग्यवती नारी के लिए अपशकुन माना जाता है—किसी योधा की छाती में सेल का लगना भी तो किसी सौभाग्यवती के अलक्तक पात्र का टूट जाना है। क्रिया-साम्य देखकर तलवार से सिर काटना तथा कुलाल[3] चक्र से मिट्टी का बर्तन उतारना, इन दोनों की तुलना पृथ्वीराज रासो के समान यहाँ भी है। साथ ही तेग से तरबूज के समान सिर को काटकर पृथ्वी पर गिरा देना[4], या फरसा से सिर को उस तरह से फाँकें करना जिस प्रकार कि तरबूज की करते हैं[5], इस काव्य की अपनी सूझें हैं; गदा आदि से सिरों को फोड़ देना

---

१. सेल (सं०) बरछी।
२. अलक्तक (सं०) महावर, जिससे सौभाग्यवती स्त्रियाँ अपने पैर रँगती हैं।
३. बहे तेग सीसं सु सूर न हारं। मनो मुत्त पिंड कुलालं उतारं॥ (४४३)
४. बहे तेग कंधं करं सीस न्यारे। परं टुट्ट तरबूज धरनी पसारे॥ (४५)
५. बहे सीस फरसा सिरं फाक होई। मनो कट्टिये फार तरबूज सोई॥ (४४३)

तथा कृष्ण का दही की मटकी फोड़कर लीला करना[1], इन दोनों की समानता भी अद्भुत लगती है, परन्तु इसमें योधा के मन का उल्लास और विनोद भली भाँति व्यक्त होता है—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है उस युग में मरना-मारना सबसे प्रिय तथा सबसे प्रतिष्ठित मनोविनोद था।

जायसी के वर्णनों में एक चमत्कार यह बतलाना है कि सिंह वन में जाकर क्यों रहने लगा[2], या भिड़ पीली क्यों होती है[3], या तोते की चोंच लाल क्यों है[4], चंदवरदाई ने भी इस रुचि का संकेत किया है[5], परन्तु परमाल रासो में इस प्रकार की संभावनाएँ अधिक चमत्कारपूर्ण हैं, शृंगार के प्रसंग में कवि ने यह बतलाया है कि सिंह वन में जाकर क्यों रहता है और हस्तिनी की सूँड सिकुड़ी हुई क्यों होती है—

कटि की बहु सोभ निहार छयं। लजि कंठि रवं बनराज गयं॥
सुभ ऊरव जंघ सु सोभमयं। लजि सुंडिनि सुंड सकोर लयं॥ (२७४)

ध्वन्यर्थव्यञ्जना के समान ही नाद-सौन्दर्य का एक नया रूप परमालरासो में मिलता है, जिसका अनुकरण कबीर के कुछ पदों में तथा जायसी के 'अखरावट' में भी है[6], और यह मानना पड़ता है कि यह एक लोक-प्रचलित प्रवृत्ति का ही प्रभाव है जिसका निर्वाह आगे भी लोक-कवि करते रहे, क्योंकि जायसी आदि ने इस प्रणाली को जनता से ही लिया होगा किसी काव्य से नहीं। इस प्रणाली के अनुसार अकारादि क्रम से वर्णमाला के सभी वर्णों को किसी एक निश्चित वर्ण के संयोग में यथाक्रम रखकर एक निरर्थक ध्वनि-जाल तैयार हो जाता है[7] परमाल रासो में युद्ध-स्थल में मकार तक इसका सुन्दर रूप दिखलाई पड़ता है—

कह-कह सुवीर कहत। खहखह सु संभु हसंत॥
गह-गह सुगौरिय गंग। घह-घह सु घुमड़ि तरंग॥
टह-टह सु बुल्लिय मोर। ठह-ठह सुखन मुख सोर॥
डह-डह सु डौरव बज्जि। ढह-ढह सु सिव वृष सज्जि॥ (८१)

साधारण दृष्टिपात से तो ऐसा जान पड़ता है कि कवि ने प्रत्येक वर्ण के साथ

---

१. बहै अंग सीसं सु अप्पार मारं। किधौं कान्ह फोरंत दधि ग्वाल सारं॥ (४४३)
२. सिंघ न जीता लंक सरि, हारि लीन्ह बनवासु॥ (जायसी ग्रंथावली ४७)
३. परिहँस पियर भए तेंहि बसा। (जा० ग्रंथावली ४७)
४. ओहि रकत लिखि दीन्हीं पाती। सुआ जो लीन्ह चोंच भइ राती॥ (जा० ग्रं० ६६)
५. देखंत ग्रीव सुरंग। तब भयौ काम अनंग॥
   उप्पनौ देखि सु हंस। जौ लियौ बन कौ अंस॥
   सुनि कोकिला कलराव। भयौ बरन स्याम सुभाव॥ (पृ० रा० १९८२)
६. जायसी ने अपने सिद्धान्त-ग्रन्थ 'अखरावट' में दोहे तथा सोरठे के बाद प्रथम चौपाई नवीन वर्ण से प्रारम्भ की है; जैसे 'का-करतार चहिय अस कीन्हा' (क) 'खा-खेलार जस है दुइ करा' (ख), 'गा-गोरह अब सुनहु गियानी' (ग)। इस प्रणाली को 'ककहरा' कहते हैं।

हैं जोड़कर उन पर भी आवृत्ति कर दी है, और 'कह-कह' आदि शब्द बना लिए हैं। वस्तुतः ऐसे पद निरर्थक नहीं हैं; जिस प्रकार "खह-खह" किसी के हास्य से चिढ़ने में आता है[1], "घह-घह" जल के घुमड़ने का[2] तथा "डह-डह" डमरू की ध्वनि का नाम है। यह एक दूसरा ही प्रश्न है कि काव्य में इस प्रकार की ध्वनि-योजना सौन्दर्य-वर्द्धक है या नहीं, परन्तु परमालरासो की यह एक विशेषता है, इसमें सन्देह नहीं। वीर काव्य का प्राण नाद तथा आवृत्ति था, सम्भव है ककहरा-प्रणाली का भी उस समय इसीलिए स्वागत होता हो।[3]

पृथ्वीराज रासो में 'रूपक-बन्ध' के सौन्दर्य पर हम विचार कर चुके हैं, परमाल रासो में भी उस प्रकार के कुछ निदर्शन हैं, परन्तु उनमें न तो 'उपमा' है और न 'मानो', हाँ शृंगार तथा वीर का प्रस्तुत-अप्रस्तुत समानान्तर वर्णन उसी प्रकार चलता है। एक ओर 'सूर' है, और दूसरी ओर 'परी' (अप्सरा), दोनों की तैयारियाँ एक-दूसरे की समानान्तर (समानं) हैं, मानो उनमें बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव हो—

इतै टोप टकार सिरक्कस उतंगं। उतै अप्छरी कंचुकी कसिम अंगं॥
इतै सूर मोजा बनावंत भाए। उतै अपसरा नूपुरं पहिर पाए॥
इतै सूरमा पाग पै झिल्लम डारं। उतै अड्ड रम्भ सु माँगै सभारं॥
कही कवि चंदं निरख्खी सु सोऊ। बरन्नं समानं परी सूर दोऊ॥(३४७)

इस प्रवृत्ति का उद्गम भी हमको अपभ्रंश के काव्यों में मिलता है, महापुराण में इस प्रकार के कई वर्णन हैं, १५वीं सन्धि में सेना तथा नदी का ऐसा ही समानान्तर वर्णन 'सरि छज्जइ' तथा 'बलु छज्जइ' पदों की बार-बार आवृत्ति से किया गया है, ३७वीं सन्धि में सन्यासी तथा पर्वत का समानान्तर वर्णन 'गिरि सोहइ' तथा 'जिए सोहइ' पदावली में भी देखने योग्य है। महापुराण में सबसे रमणीय समानान्तर वर्णन गंगा तथा कान्ता का है, मन्मथवाहिनी अपनी गृहिणी का जो रूप था वही रूप जनसुखदायिनी मंदाकिनी में राजा ने देखा—

जोयवि गंगहि सारसहं जुयलु। जोयइ कंतहि थणकलस जुयलु॥
जोयवि गंगहि सुललिय तरंग। जोयइ कंतहि तिवली तरंग॥
जोयवि गंगहि आवत्तभवरण। जोयइ कंतहि वरणाहि रमरण॥

---

१. जब हमको किसी की हँसी बुरी लगती है तो हम चिढ़कर उससे कहते हैं कि क्यों "खह-खह" करता है।

२. देवकवि ने बादलों के घुमड़ने के लिए 'घहर' ध्वनि का प्रयोग किया है—

घहर-घहर भीनी बूँदें हैं परित मानो
घहर-घहर घटा घिरी है गगन में॥

३. आगे चलकर सूदन कवि ने तो केवल निरर्थक ध्वनियों के प्रयोग द्वारा ही आतंक का प्रभावपूर्ण चित्र खींचा है :—

धड़धद्धरं, धड़धद्धरं। भड़भब्भरं, भड़भब्भरं।
तड़-तत्तरं, तड़-तत्तरं। कड़-कक्करं, कड़ कक्कर॥

जोधरि गंगहि पत्तून कमनु। जोधइ कंतहि रिउ अपरा कमनु॥
जोधरि गंगहि मोतिपह दंति। जोधइ कंतहि लिय अगरा दंति॥
लिय गेहिलि कमहुवाहिलि, देवि सुलोचणि जेही।
मरदाइलि जणगुहुवाइलि, कीणइ राएं तेही॥[1]

अपभ्रंश काव्यों की रुचि तथा रासो काव्यों की रुचि में एक अन्तर अवश्य स्पष्ट दिखलाई पड़ता है. रासो काव्यों में यह निश्चित था कि प्रस्तुत-अप्रस्तुत में से एक वर्णन वीर रस का होगा दूसरा शृंगार का, परन्तु अपभ्रंश काव्यों में यह आवश्यक नहीं है प्राय एक वर्णन शान्त रस का होता है और दूसरा शृंगार या वीर का। कारण स्पष्ट है कि अपभ्रंश काव्यों में धर्म को भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है। जो व्यञ्जना वीरकाव्यों में आ गई वह अपभ्रंश काव्यों में न आ सकी। वीरकाव्यों में ऐसे स्थलों पर यह व्यञ्जना रहती थी कि जिस प्रकार युद्ध-भूमि में लड़कर प्राण देनेवाले योधा स्वर्ग-सुख के भोग (जिसमें अप्सराओं के साथ विलास मुख्य है) को उत्सुक रहा करते थे उसी प्रकार स्वर्ग की अप्सराएँ भी ऐसे स्वनामधन्य वीरों को आलिंगन पाने की प्रतीक्षा करती रहती थी, और एक की तैयारी में दूसरे की तैयारी स्पष्ट झलकती थी। 'हम्मीर रासो' के एक वर्णन से यह रहस्य स्पष्ट हो जाता है—

मिलनं सुवीर शृंगार। दुहु हरष हिए अपार॥
वर वीर हरषेउ अंग। उत अच्छरी सु उमंग॥
तहाँ कोच वीर नवीन। रवि थाल बसन प्रवीन॥ (१४८)

× × ×

इहि भाँति सुर स-बाल। उतकंठ मिलन तिकाल॥

आगे चलकर कवियों ने इस प्रवृत्ति को न अपनाया परन्तु जायसी ने एक स्थल पर ऐसा ही झुकाव दिखाया है जिसमें वीरकाव्यों की अभीष्ट व्यंजना अपना यथार्थ रूप न दिखलाकर कोरे 'सिंगार-जूझ'[2] में उलझी रह गई है।

### बीसलदेव रासो

नरपति नाल्ह ने वीरकाव्य के युग में राजा बीसलदेव की कथा 'बीसलदेव रासो' नाम से लिखी जिसमें वीर रस की अपेक्षा शृंगार रस का महत्त्व अधिक है, तथा जो प्रबन्धकाव्य न होकर गीतकाव्य बना हुआ है। गीतकाव्य में तन्मयता पर ही अधिक जोर दिया जाता है, काव्य सौष्ठव पर कम, इसलिए इसमें आलंकारिक सौन्दर्य का संयोग कम ही हो पाता है। गीतकाव्य की सफलता मार्मिक उक्तियों में है, बीसलदेव रासो की भी अनेक पंक्तियाँ मन को मोहने वाली हैं—

(क) कितमक लीख्या सो भोगवी
विरण भोग्या नहीं छूटसी पाप। (३१)

---

१. दे० 'अपभ्रंश-साहित्य', पृ० ६१।
२. गोरा-बादल-युद्ध-यात्रा-खंड (जायसी-ग्रन्थावली, २८३-४)।

(क) कर कइ [illegible] ढंकतउ जाई ?
    [illegible] लिख्यो कइ कहइ ? (४८)
(ख) [illegible] [illegible] दूर रहा
    [illegible] [illegible] दीज्यो हाथ ॥[1] (४६)
(ग) [illegible] जोबन, [illegible] हाथ । जोबन नदि [illegible] दीह ने राति ॥[2]
    जोबन [illegible] न रहई । जोबन बिच [illegible] होसीय छार ॥ (४३)

इनमें से कतिपय सूक्तियाँ उक्तिमूलक अलंकारों का काम देती हैं, जिस प्रकार विशेष से सामान्य का समर्थन करनेवाली यह उक्ति—

जो धी [illegible] दमदन्ती नारि
नल राजा मेल्हे गयो
पुरुषि भयो नहीं निगुण संसार । (६४)

नरपति नाल्ह की उक्तियों के सौन्दर्य में किसी को सन्देह नहीं हो सकता, जिस प्रकार राजा की चिर-प्रतीक्षा करती हुई रानी का यह कथन कि तू केवल एक बार लौटकर घर आजा मैं तेरे पथ को अपने केशों से झाड़कर सुगढ़ बना दूँगी—

एक वार्ग घरि आवज्यो
वाट बुहारूँ गोर का केस ॥ (७५)

बीसलदेव रासो में न तो सादृश्यमूलक अलंकारों का आग्रह है, न "रूपक-बंध" या "उपमा" का, और न समानान्तर सादृश्य का ही कोई उदाहरण मिलेगा, यहाँ साम्यवाचक शब्द "सो" (जोसी), "ज्यूँ", तथा "ईम" पाये जाते हैं। जिन साम्यों के लिए "ज्यूँ" वाचक शब्द का प्रयोग हुआ है उनमें आलंकारिक चमत्कार तो नहीं है परन्तु जनसाधारण में कहावत बनी हुई उक्तियाँ साम्य के भीतर मार्मिकता लिये हुए हैं—

(क) आँगूँ दाल्या मोर ज्यूँ (५०)
(ख) खेत कमाती जाट ज्यूँ (७६)
(ग) जोबन राख्यो चोर ज्यूँ (८४)

यह प्रसिद्ध है कि मोर अपने सुन्दर परों को देखकर हर्ष से फूला नहीं समाता,

---

१. कान सबके पास रखो, पैर दूर रखो (छिपाओ) और अपने मुँह पर हाथ रखो; अर्थात् सबकी बात सुन लो, परन्तु किसी के कथनानुसार काम मत करने लग जाओ और अपने मन की बात किसी से मत कहो ।

२. तुलना कीजिए—
'ऊजड़ खेड़ा भँवरजी फेर बसे जी
हाँ जी ढोला निरधन के धन होय ।
जोबन गये पछे क ना बावड़े जी
म्हे जी थानें लिखूं बारम्बार ।
जल्दी घर आओ जी,
क थारी धण एकली जी ॥ (मारवाड़ी गीत)

[illegible] लिए हैं, जिस पर जायसी [illegible] ।

[illegible] परम्परा में भी [illegible] भी धीरे-धीरे पण्डितों के हाथ [illegible] लिखनेवाले मुल्ला, भाट तथा सूदन [illegible] को छोड़कर नीतिकालीन चमक-दमक में फँस गये। जिन कवियों का [illegible] के जीवन तथा साहित्य से अधिक सम्पर्क रहा उन्होंने [illegible] प्रवृत्तियों को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया, परन्तु [illegible], 'हम्मीर रासो' का नाम भी पुरानी परम्परा का है [illegible], परन्तु जो कमी पीछे के वीरकाव्य में दिखाई पड़ती है वह यहाँ भी है; 'अबला', तथा 'बेगम' शब्द पर खिलवाड़ हमारे अभिप्राय को स्पष्ट कर देगी—

(क) कवि [illegible] अबला कहत, सबला जोध कहंत ।[1]
    [illegible] मन में प्रगट किहि, मोहन [illegible] ॥ (पृ० ३२)

(ख) बेगम जानि जु सोच की, इन मरिबे मन दीन ॥[2] (पृ० ५४)

यदि रासोकाव्यों की तुलना में सूदन आदि के काव्यों को रखकर अध्ययन करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि दोनों में आश्रयदाताओं की अत्युक्तिपूर्ण प्रशंसा की गई है, फिर भी दोनों एक ही श्रेणी के नहीं हैं, रासो काव्य का जनता के जीवन से इतना घनिष्ठ मेल है कि उसको दरबारी कहना उचित नहीं जान पड़ता, परन्तु पिछले वीरकाव्य राजसभा में बैठनेवाले कुछ विशेषज्ञों के ही मनोविनोद के साधन हैं, जिसका मुख्य प्रमाण उनमें रासोकाव्य के स्वाभाविक सौन्दर्य का अभाव है।

---

१. अन्य कवि (अथवा सामान्य कवि) उसको अ-बला कहते हैं, परन्तु जोध कवि उसको स-बला मानते हैं, क्योंकि यह प्रगट है कि वह सन्त तथा असन्त सभी को मोहित कर दुर्बल बना देती है।

२. स्त्री को बे-गम (जिसको कोई गम = शोक न हो) कहा जाता है, इसीलिए वह मरने (मारने = दूसरों का प्राण हरने) की ठान लेती है।

घोन गया[1] परन्तु सामाजिक परिवर्तन असह्य हो गये। हिन्दुओं के ही सामने उनके मन्दिर तोड़े गये, उनके शास्त्र जला दिये गये, उनकी महिलाओं का अपमान हुआ, और द्विजों को म्लेच्छों की दासता करनी पड़ी। हिन्दुओं की सामाजिक भावनाओं को प्रतिहिंसापूर्वक जीर्ण-शीर्ण कर डाला गया। फल उलटा ही हुआ, इस वीर जाति ने आक्रमणकारियों को यह दिखा दिया कि किसी भी जीवित जाति को तहस-नहस नहीं किया जा सकता। दूरदर्शी विधर्मी इस बात को समझे कि समाज का अभिजात वर्ग मुसलमान नहीं बन सकता और बलपूर्वक तो निम्न वर्ग को भी निगल जाना सम्भव नहीं[2]। अस्तु कुछ समझदार मुसलमान प्रचारक की सच्ची भावना से देश के उस भीतरी अपरिचित भाग में घुस गये[3] जहाँ अभी तक मुसलमानों का नाम न था, और प्रेम की कहानियों[4] तथा जादू-टोने के चमत्कारों से भोली-भाली जनता को अपना अनुयायी बनाने लगे। साहित्य में इनको 'सूफी कवि' अथवा 'प्रेममार्गी' कवि कहा जाता है।

## सूफी कवि

विद्वानों ने 'सूफी' शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ किये हैं परन्तु यह मानने में किसी को आपत्ति न होनी चाहिए कि जिस प्रकार भारत का 'सन्त' शब्द एक आचरण विशेष का द्योतक है उसी प्रकार मुसलमान समाज में 'सूफी' शब्द से प्रेम तथा त्याग का संकेत मिलता है; सम्भव है जिस प्रकार भारतीय सन्त के साथ गैरिक वस्त्र लग गया है उसी प्रकार सूफी के साथ पीछे के विद्वानों ने बकरी या भेड़ के ऊन को बाँध दिया हो। अलबरूनी ने सूफी शब्द के अन्य अर्थों को असंगत मानते हुए उसका आदि प्रयोग 'ज्ञानी' (फैलासोफा [ग्रीक] = ज्ञानानुरागी) अथवा 'सन्त' के अर्थ में ही स्वीकार किया है[5]। सूफियों के सिद्धान्तों में दो बातें मुख्य हैं—प्रथम, अपनी कामनाओं को

---

१. (क) मानुष साज लाख मन साधा। होइ सोइ जो विधि उपराजा॥ (११६)
(ख) कंतो धाइ मरै कोइ बाटा। सोइ पाव जो लिखा लिलाटा॥
(जा० ग्रन्थावली, २६६)

२. दीज पीपल विल हार्डली यील्ड टु फोर्स और परसुएशन, ओनली ए सिम्पैथेटिक इंटरकोर्स माइट इनक्लाइन देम टु इस्लाम। (डा० हबीबुल्लाह द्वारा "फवाइदुल फवायद" से उद्धृत, पृ० ३०२)

३. मोन दि बिहेस्ट ऑफ दि मुरशिद ही ट्रैवेल्ड टु डिस्टेंट कंट्रीज एंड सेटिल्ड डाउन विद ए ट्रू मिशनरी ज़ील अमंग अनफैमिलियर एंड ईविन होस्टाइल पीपल। (दि फाउंडेशन ऑफ मुसलिम रूल इन इंडिया, पृ० २८२)

४. सुरुज चाँद कै कथा जो कहेऊ। पेम क कहनि लाइ चित गहेऊ॥ (जा० ग्र०, ३३)

५. अलबरूनीज इंडिया, सपादक डा० एडवर्ड सी० साचू, भाग I।
दिस इज आलसो दि थ्योरी ऑफ दि सूफीज, दैट इज, दि सेजेज, और गुड मेन इन ग्रीक विजडम। दियरफोर ए फिलोसोफर इज कॉल्ड फैलासोफा, दैट इज लविंग

१. सब हिन्दू असपरन मँह, होन लगे उत्पात। (परमाल रासो, २२२)
बेद विप्र नहिं पढ़त, सुरभि मारत भर गलि। (वहीं, ५५३)

२. शहाबुद्दीन ने ततारखाँ तथा खुरासान खाँ से कहा था—
मत्र गोइ जिन भेद, भेद बिन मंत्री न कोई।
भेद मन्त्र बल तोर, भेद देखें सब कोई॥ (पृथ्वीराज रासो)

३. कीन्हेसि कोइ भिखारि, कोई धनी। (जा० प० २)

४. (क) राजहिं करति भिखारि सो, कौन गहे तुम हाथ। (चित्रा० २३२)
(ख) छत्रहिं अछत, निछत्रहिं छावा। दूसर नाहिं जो सरवरि पावा॥
(जा० ग्रं०, ३)

[illegible] धर्म परिवर्तन प्रारम्भ हो गये। हिन्दुओं के ही सामने उनके [illegible] उनके [illegible] किये गये, उनकी मूर्तियों का अपमान हुआ, [illegible] को [illegible] करनी पड़ी। हिन्दुओं की सामाजिक भावनाओं को [illegible] । पर उल्टा ही हुआ, इस वीर जाति ने [illegible] को यह सिद्ध किया कि किसी भी जीवित जाति को तहस-नहस नहीं किया जा सकता। मुसलमानों ने इस बात को समझा कि समाज का अभिजात वर्ग [illegible] और बलपूर्वक तो निम्न वर्ग को भी निगल जाना सम्भव नहीं। परन्तु कुछ समझदार मुसलमान प्रचारक भी सच्ची भावना से देश के उन [illegible] भाग में घुस गये[३] जहाँ अभी तक मुसलमानों का नाम न था, और प्रेम की कहानियों[४] तथा जादू-टोने के चमत्कारों से भोली-भाली जनता को अपना अनुयायी बनाने लगे। साहित्य में इनको 'सूफी कवि' अथवा 'प्रेममार्गी' कवि कहा जाता है।

## सूफी कवि

विद्वानों ने 'सूफी' शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ किये हैं परन्तु यह मानने में किसी को आपत्ति न होनी चाहिए कि जिस प्रकार भारत का 'सन्त' शब्द एक आचरण विशेष का द्योतक है उसी प्रकार मुसलमान समाज में 'सूफी' शब्द से प्रेम तथा त्याग का संकेत मिलता है, सम्भव है जिस प्रकार भारतीय सन्त के साथ गैरिक वस्त्र लग गया है उसी प्रकार सूफी के साथ पीछे के विद्वानों ने बकरी या भेड़ के ऊन को बाँध दिया हो। अलबरूनी ने सूफी शब्द के अन्य अर्थों को असंगत मानते हुए उसका आदि प्रयोग 'ज्ञानी' (फैलासोपा [ग्रीक] = ज्ञानानुरागी) अथवा 'सन्त' के अर्थ में ही स्वीकार किया है[५]। सूफियों के सिद्धान्तों में दो बातें मुख्य हैं—प्रथम, अपनी कामनाओं को

---

१. (क) मानुष साज लाख मन साधा। होइ सोइ जो विधि उपराजा॥ (११६)
(ख) कैनो धाइ मरै कोइ बाटा। सोइ पाव जो लिखा लिलाटा॥
(जा० ग्रन्थावली, २६६)

२. दीज पीपल विल हार्डली यील्ड टु फोर्स ग्रौर परसुएशन, ग्रोनली ए सिम्पैथेटिक इंटरकोर्स माइट इनक्लाइन देम टु इस्लाम। (डा० हबीबुल्लाह द्वारा "फवदुल फवायद" से उद्धृत, पृ० ३०२)

३. ग्रोन दि बिहेस्ट ग्रॉफ दि मुरशिद ही ट्रेविल्ड टु डिस्टेंट कंट्रीज एंड सैटिल्ड डाउन विद ए ट्रू मिशनरी जील ग्रमंग ग्रनफमिलियर एंड ईविन होस्टाइल पीपल। (दि फाउंडेशन ग्रॉफ मुसलिम रूल इन इंडिया, पृ० २८२)

४. सुरुज चाँद कै कथा जो कहेऊ। पेम क कहनि लाइ चित गहेऊ॥ (जा० ग्र०, ३३)

५. ग्रलबरूनीज इंडिया, सपादक डा० एडवर्ड सी० साचू, भाग I।
दिस इज ग्रॉलसो दि थ्योरी ग्रॉफ दि सूफीज, दैट इज, दि सेजेज, फौर सुफ मीन्स इन ग्रीक विज़डम। दिग्ररफोर ए फिनोसोफर इज कौल्ड पैलासोपा, दैट इज लविंग

पूर्णतः ईश्वराधीन कर देना[१]; द्वितीय, गुरु की अन्धभक्ति[२]। वे ईश्वरीय ज्ञान की अपेक्षा ईश्वरीय अनुग्रह तथा परलोक-सुधार को अधिक महत्व देते हैं, पाप तथा उसके दण्ड का इनको औरों की अपेक्षा अधिक ध्यान रहता है, एवं धर्म के बाहरी रूप का इनके यहाँ कोई मूल्य नही। सूफियो को अपने मत के प्रचार की धुन तो रहती है परन्तु किसी दूसरे मत मे द्वेष नही होता, यही कारण था कि भारतीय जनता को सूफियों में कुछ अपनापन दिखलाई पडा और जब वे उसके जीवन में घुलने-मिलने लगे तो जनता ने भी उनको अपना समझकर उनका स्वागत किया।

सास्कृतिक दृष्टिकोण से भारतीय समाज में चिरकाल से दो वर्ग रहते आये हैं[३]—एक अभिजात वर्ग, जिसमें उस समय कम व्यक्ति थे परन्तु जो अपने बुद्धि-विकास के कारण समाज का नेता था; दूसरा पतित वर्ग, जिसका मानसिक स्तर अपेक्षाकृत बहुत नीचा था। जितने सामाजिक या धार्मिक आन्दोलन हुए हैं सबको इसी पिछले वर्ग में स्थान मिला है। जब मुसलमान उत्तरी भारत में छा गये तो उनकी दाल भी इसी वर्ग में गली। उस समय यह वर्ग बौद्धधर्म के विकृतावशेष शैव-शाक्त-मत-मिश्रित नाथ-मत तथा तान्त्रिक-मत को मानने लगा था, उत्तरी भारत की अपेक्षा पूर्वी भारत में इसका अधिक जोर था। इसमें सिद्धि और चमत्कार, शाप और शकुन, मंत्र और तंत्र, ग्रह और नक्षत्र, जोगिनी तथा दिशाशूल आदि की बडी मान्यता थी। वैष्णव संत इन बातों को हेय समझते थे, परन्तु सूफियो ने इनमें विश्वास दिखलाया इसलिए मूढ जनता उनकी ओर खिच सकी। सिद्धि तथा चमत्कार की ये बातें जातक-कथाओं में भी[४] पाई जाती हैं, मुसलमान सूफियो में से अधिकतर लोग परपरा में कभी न कभी

---

विज्डम। व्हेन इन इस्लाम परसन्स एडोप्टेड समथिंग लाइक दि डोक्ट्रिन्स ऑफ दीज फिलोसोफर्स, दे ऑलसो एडोप्टेड दिअर नेम, बट सम पीपल डिड नोट अंडर-स्टैंड दि मीनिंग आफ दि वर्ड एण्ड इरेनियसली कम्बाइन्ड इट विद दि अरेबिक वर्ड सुफ्फ, एज इफ दि सुफी वर आइडेंटीकल विद दि सो-कौल्ड अहल-असुफ्फा अमग दि कम्पेनियन्स ऑफ मुहम्मद। इन दि लेटर टाइम्स दि वर्ड वाज करप्टेड बाइ मिस-स्पेलिंग, सो दैट फाइनली इट वाज टेकिन फौर ए डेरिवेशन फ्रोम सुफ दैट इज, दि वूल आफ गोट्स। (पृ० ३३-३४)

१. दि चीफ करेक्टरिस्टिक आफ दिअर बिलीफ वाज दि सबमिशन आफ ह्यूमन विल टु गोड। (इनफ्लूएंस ऑफ इस्लाम ओन इंडियन कलचर, पृ० ६६)

२. मुहम्मद टौट सरेंडर टु गोड (इस्लाम), सूफीज्म सरेंडर टु दि टीचर हू इज दि रिप्रेजेंटेटिव आफ गोड अपोन अर्थ। (वही पृ० ८१-२)

३. इनफ्लूएंस आफ इ० ओन इ० कलचर (भूमिका, पृ० II)

४. वर्तमान समयेर न्याय तत्कालेउ लोके दुःस्वप्न ओ दुर्निमित्त देखिया भये कम्पित, एवं भूतयोनि पिशाचयोनि प्रभृति दिया शान्ति-स्वस्त्ययन करित; तखन लोके अर्थद्वारा अपरेर पुण्यांश क्रय करित। (श्री ईशानचन्द्र घोष, जातक (प्रथम खंड) उपक्रमणिका)

बोद्ध रह चुके थे[1] इसलिए भी उनका इन अवैदिक काण्डों के प्रति श्रद्धा रखना स्वाभाविक था। राजनीतिक तथा सामाजिक अत्याचारों से संतप्त मूढ़ समाज जब किसी चमत्कारी सिद्ध के आगमन का 'सुसमाचार' सुन पाता था तो थोड़ी देर के लिए उसको अपनी कामनाएँ फलती हुई दीखने लगती थी, इसीलिए ऐसे सिद्धों के चारों ओर दुखियों की भीड़ लग जाती थी, 'चित्रावली' में इस दृश्य का एक सुंदर चित्र है—

सागर गाँव सिद्ध एक आवा। मुख देखत मन इच्छ पुरावा॥
कुष्टी काया, बाँझ सुत पावै। अवहि चखु दै जग देखरावै॥
कहै चाह परदेसी केरी। बिछुरेहि आनि मिलावै फेरी॥ (पृ० १७७)

सूफी कवियों ने भारतीय भाषाओं में जो रचना की है उसमें हिन्दू तथा मुसलमान मतों का अद्भुत मिश्रण कर दिया है। हिन्दी के सूफी कवि प्रायः प्रेम की कहानियाँ ही लिखा करते थे और यदि किसी की कहानी चल गई तो वह सिद्धान्त-ग्रंथ बनाने लगता था, यही कारण है कि सामान्य सूफी को सिद्धान्त-ग्रंथ लिखने का अवसर न मिला, वामांग से एक कान तथा एक आँख खोकर दक्षिणमार्गी होने की घोषणा करने वाले[2] तथा अपनी परंपरा में नक्षत्रों के बीच शुक्र के समान चमकने वाले[3] मलिक मुहम्मद ही "अखरावट" और "आखिरी कलाम" लिखने का साहस कर सके। बंगाल के कवि सैयद आलाओल की प्रथम रचना "पद्मावती" जायसी के काव्य का ही अनुवाद है, कदाचित् उन्होंने तदनन्तर मुसलिम चरितकाव्य ("दारा सिकन्दरनामा", "नवीवंश" तथा "मुहम्मद-चरित")लिखे, और अंत में "तोहफा" तथा "ज्ञानप्रदीप" लिखकर अपने मत के सिद्धान्तों (मुसलमान धर्मेर अनुष्ठान ओ कृत्य आदि[4]) का विवेचन किया है। जिस प्रकार जायसी ने "पद्मावत" में अप्रस्तुतों को हिन्दू तथा मुसलमान दोनों के इतिहास से लिया है[5], और उसमान ने तीर्थ-पर्यटन करते हुए मक्का, मदीना, तथा काशी सबका नाम दे दिया है[6], उसी प्रकार सैयद आलाओल के "नवीवंश" में १२ अवतारों के मध्य ब्रह्मा, विष्णु, शिव एवं श्रीकृष्ण को भी स्थान मिल गया है। अपने सिद्धान्तों का प्रचार करते-करते ये सूफी कवि हिन्दुओं की भी बातें चलाकर यह दिखलाना चाहते थे कि हम में और तुम में कोई भेद नहीं है, और हम तुम्हारी बातें भी जानते हैं तुम हमारी नहीं जानते, इसलिए हम स्वयमागत गुरुओं को

---

१. इट इज वेल नोन दि सूफीज अमंगस्ट मोहमेडन्स, हू वीकेम कन्वर्ट्स फ्रोम बुद्धिज्म हैव रिटेन्ड दि फिलोसोफी आफ दिअर ओरिजिनल क्रीड वेनीथ्रेड विद फेथ इन ए पर्सनल गौड एन्जोइड बाइ इस्लाम। (२६)
(बंग साहित्य परिचय, भाग १)

२. मुहम्मद बाईं दिसि तजा, एक स्रवन, एक आँखि। (जा० ग्र०, १६२)

३. जग सूझा एकै नयनाहाँ। उआ सूक जस नखतन्ह माँहा॥ (जा० ग्र०, ८)

४. बांगला साहित्येर कथा, पृ०६६।

५. जैसे—'हानिम करन तियागी अहे'। (जा० ग्र०, ७)

६. चित्रावली, पृ० १४६ तथा १६१।

बातें मानकर हमारे शिष्य बन जाओ[1]। अधिकतर सूफी अपने को पंडित[2] कहते थे, और अपने को जाति का ब्राह्मण[3] बतलाने का प्रयत्न करते थे, इनकी यत्किंचित् सफलता के दो कारण हैं—प्रथम, इनका नियम था कि मन के भीतर चाहे कुछ हो बाहर से जैसा सब लोग आदर की दृष्टि से देखते हैं वैसा ही आचरण करना चाहिए[4], द्वितीय वे यह जानते थे कि कवि की वाणी आग भी बरसा सकती है तथा पानी भी[5]; जिसकी वाणी पानी बरसाकर पाठक या श्रोता के मन को शीतल करेगी वह उस कवि को सदा याद रखेगा और दूसरे से भी उसकी प्रशंसा करेगा[6]।

इस भाँति अपने व्यवहार की व्यवस्था करके सूफी लोग समाज के उस वर्ग में जा बसे जो या तो राजनीतिक परिवर्तनों की कहानियों को दूर से सुन लिया करता था या जिसके पुराने घाव अब भरने लगे थे। राजपूती वीरता की कथाएँ आज भी कभी-कभी छिड़ जाती थीं परन्तु केवल मनोरंजन के लिए या समय काटने भर के लिए, नवयुवकों में वीरता के स्थान पर शृंगार की भावना का अधिक स्वागत था, और जिन्होंने राजपूतों के विलास तथा उनकी वीरता की गाथाएँ सुनी थीं वे वयोवृद्ध जीवन में असारता का अनुभव करने लगे थे[7], जब इतने बड़े-बड़े योधा तथा शासक मिट्टी में मिल गये तो हमारे जैसे तुच्छ व्यक्तियों के जीवन का क्या भरोसा[8]—अन्त में सबकी कहानी ही रह जाती है[9]। जिस प्रकार रात्रि बिताने के लिए बालक कहानी कहना तथा सुनना चाहते हैं उसी प्रकार विदेशी शासन की उस 'स्याम रैन'[10] में प्रजा (अभागी सन्तान के समान जनता) कुछ वृद्ध तथा गुणी लोगों से प्रेम की कहानी सुन

---

१. अपने जोग लागि अस खेला। गुरु भएउ आपु, कीन्ह तुम्ह चेला ॥ (जा० ग्र०, १४६)
 अहक मोर पुरुषारथ देखेहु। गुरू चीन्हि कै जोग विसेखेहु॥ (जा० ग्र०, ३१)
२. हौं बाम्हन औ पंडित, कहु आपन गुन सोइ। (जा० ग्र०, ३१)
३. हम तुम जाति बराम्हन दोऊ। (जा० ग्र० ६३)
४. परगट लोकाचार कहु बाता। गुपुत लाउ मन जासौं राता ॥ (जा० ग्र०, २०१)
५. कवि कै जीभ खडग हरद्वानी। एक दिसि आगि, दूसर दिसि पानी ॥ (जा० ग्र०, २३३)
६. जो रे सुना ते हिरदं राखो। औ प्रति चाउ आन सौं भाखो ॥ (चित्रा०, ११९)
७. जनम अकारथ जगत भा, गई अमिरथा आउ। (चित्रा०, ११४)
 गयो अकारथ यह जनम, बरु न जनमती माइ। (वही, ११४)
८. तुम्ह ऐसी जो रहै न पाई। पुनि हम काह जो आँहि पराई ॥ (जा० ग्रं० १६७)
९. कोइ न रहा, जग रही कहानी। (जा० ग्र०, ३०१)
१०. इह कलि स्याम रैनि जनु आई। सोई पुरुष जे जागि बिहाई ॥
 जागत हू पुनि आह बिचारा। बहुतै भाँति जागै ससारा ॥
 × × ×
 जागहि पंडित पढ़त हरि-बानी। जागहि बालक कहँ कहानी ॥ (चित्रा० १४)

[illegible] । [illegible] और [illegible] तीनों में पटु था[1], जिससे [illegible] और [illegible] भी, और [illegible] में [illegible] सूफी कवि इस कथा या [illegible] भूरि-भूरि प्रशंसा [illegible] है—

[illegible] सुनत [illegible] पावा । [illegible] के तन काम बढ़ावा ॥
[illegible] सुनें मन होइ गियाना । (चित्रा०, १४)

इस कथा की [illegible] प्रेम का प्रचार और बीच-बीच में नीति के वचन— कहीं दान की [illegible], कहीं [illegible] का महत्त्व, कहीं संसार की असारता, और कहीं विधि की प्रबलता ।

कथा की परम्परा

भारत के प्राचीनतम वाङ्मय में कथात्मक साहित्य आख्यान तथा दृष्टान्त के रूप में मिलता है, इसमें श्रद्धालु जिज्ञासु अपनी किसी शंका का समाधान पाकर संतुष्ट हो जाता था, उद्देश्य होता था किसी आदर्श की स्थापना और पात्र होते थे मनुष्य से अधिक समर्थ एवं विशिष्ट, अतः मनोरंजकता का पुट भी रह सकता था । परन्तु साथ ही एक लौकिक परम्परा भी चल रही होगी जिसका पता उस समय चलता है जब इस परम्परा को लौकिक (अवैदिक) सम्प्रदायों का आश्रय मिल गया । धर्म-शिक्षा ब्राह्मण-परम्परा में तो वेदों के पठन-पाठन श्रवण-प्रवचन आदि के द्वारा सम्पन्न होती थी, परन्तु श्रवण-परम्परा ने लोक-साहित्य को धर्म-प्रचार का माध्यम बनाया, बहुत सम्भव है इस नवीनता का एक मुख्य कारण यह भी हो कि अवैदिक सम्प्रदायों ने लोक-भाषा को ही लोक-हित (बहुजनहिताय) के लिए अपनाया था । अस्तु, महात्मा बुद्ध के पूर्वजन्मों की कथाओं के बहाने पशु तथा पक्षियों को भी कथा का पात्र बनाया जाने लगा क्योंकि बोधिसत्त्व की अवस्था में तथागत स्वयं अनेक मनुष्येतर योनियों में रहते आये थे, जब पात्र मनुष्य से नीचे थे तो वैदिक आदर्शवाद के स्थान पर जीवन का यथार्थ एवं न्यूनतापूर्ण चित्र इन कहानियों में स्वतएव आ गया । जातक कथाएँ लोक-कथाएँ थी जिनसे कोई भी सम्प्रदाय लाभ उठा सकता था[3], इनका देश में तो प्रचार हुआ ही यूनान तथा अरब में जाकर ये और भी चमकी और वहाँ के साहित्य को इन्होंने बड़ा प्रभावित किया, यहाँ तक कि उन देशों के अभिजात साहित्य में भी इनको स्थान मिल गया । भारत में ऐसा न हो पाया, कभी-कभी इन लोक-कथाओं का अधिक प्रचार देख-कर किसी पंडित ने इनमें से कुछ का संस्कृत में रूपान्तर कर दिया, और किसी कवि ने इसी प्रकार की लोक-कथाएँ संस्कृत भाषा में लिख दी, परन्तु जहाँ अभिजात साहित्य के सहस्रों ग्रन्थ मिलते हैं वहाँ लोक-साहित्य की कुछ गिनी-चुनी पुस्तकें ही संस्कृत भाषा

---

१. तीनो विद्या महँ निपुन, जोग, वीर, सिंगार । (चित्रा० १८१)
२. मैं एहि अरथ पंडितन्ह बूझा । कहा कि हम्ह किछु और न सूझा । (जा० ग्र० ३०१)
३. प्राचीन भारत की कहानियाँ, भूमिका, पृ १४ ।

में पाई जाती हैं। इस लोकरंजनकारी साहित्य के प्रति इतनी उदासीनता शिष्ट समुदाय में क्यों रही है, इसका उत्तर भी आसानी से मिल जाता है—पाठक के मन को मुग्ध बनाकर उन्हें (वैदिक) आदर्शों के योग्य न रहने देना। ज्यों-ज्यों शिष्ट समाज इनसे उदासीन होता गया त्यों-त्यों इन लोक-कथाओं का स्तर भी गिरता गया क्योंकि इनका निर्माण तथा संरक्षण उसी पतित समाज के हाथ में जा चुका था, आज भी इस प्रकार का साहित्य देशभाषा में 'बाजारू साहित्य' कहलाता है। जैन कवि बनारसीदास ने अपनी आत्म-कथा 'अर्द्धकथा' में अपनी 'इश्कबाजी वाली जीवनचर्या' (शुरू) का पश्चात्तापपूर्ण उल्लेख करते हुए इसी प्रकार के 'मिथ्या ग्रन्थों'[1] का निरन्तर पाठ करना अपने दैनिक कार्यक्रम का एक आवश्यक अंग बतलाया है।[2] लगभग इसी समय गोस्वामी तुलसीदास ने वाणी के इस दुरुपयोग को बुरी तरह फटकारा था—

> कीन्हें प्राकृत जन-गुन-गाना।
> सिर धुनि, गिरा लागि पछिताना॥

आधुनिक युग में भी 'किस्सा तोता-मैना', 'छबीली भटियारी' आदि का श्रद्धालु पाठक अच्छा नवयुवक नहीं माना जाता। अनुमान से जान पड़ता है कि जनता को अवमंत्र बनाने में इस प्रकार का लोक-साहित्य सदा सहायक रहा है।

प्रादेशिक भाषाओं में से जिनका सम्बन्ध अवैदिक मतों से अधिक रहा है उनका प्रारम्भिक साहित्य इसी जाति का शुद्धीकृत रूप है। बँगला साहित्य के आदियुग में मंगलकाव्यों के लिए जिन कथाओं की कल्पना की गई वे सभी समाज की लोक-कथाएँ हैं, ब्राह्मण तथा क्षत्रियों के स्थान पर सौदागरों तथा शूद्रों को नायक-पद मिल गया है[3] और ये लोग राजकन्याओं के वर बना दिये गये हैं, 'चंडीमंगल' का नायक कालकेतु व्याध जाति का है; मनुष्य पशु का शरीर बदल लेता है और पशु मनुष्य का; मानव के भीतर पशु का चित्र खींचने के लिए अश्लीलता के भद्दे तथा नंगे चित्र सजाये गये हैं[4]। अनुमान से जान पड़ता है कि भद्र समाज के विरोध में इस प्रकार का साहित्य जान-बूझकर फैलाया गया था क्योंकि इसी प्रकार ब्राह्मण धर्म, ब्राह्मण समाज तथा ब्राह्मण विचारधारा की निन्दा की जा सकती थी। जातकों में नायक प्रायः राजा तथा ब्राह्मण मिलते हैं, परन्तु क्षत्री प्रायः अहंकारी एवं ब्राह्मण प्रायः मूर्ख, पेटू तथा लोभी बनाये गये हैं। मंगलकाव्यों में देवी-देवताओं की पूजा न करनेवाले मनुष्यों को दंडस्वरूप कष्ट दिलवाकर अन्त में चण्डी आदि का अनुयायी दिखाया गया है। जायसी के काव्य में सिंहलद्वीप का युद्ध श्रमण तथा वैदिक संस्कृतियों का युद्ध है, कुलाभिमानी गन्धर्वसेन अपनी फूल-सी सुकुमारी पुत्री किसी भी अवैदिक जोगी को नहीं देना चाहता,

१. ऐसे कुकवि बनारसि भये। मिथ्या ग्रंथ बनाये नये॥ (अर्द्धकथा, पृ० १४)
२. तब घर में बैठे रहैं, नाहिन हाट-बजार।
   मधुमालती, मृगावती पोथी दोय उचार॥ (अर्द्धकथा, पृ० २५)
३. सरल बांगला साहित्य, पृ० ६१।
४. वही, पृ० ६८।

परन्तु अन्त में झक मारकर उसको ऐसा करना पड़ा है, रत्नसेन-पद्मावती-विवाह-खंड (दोहा १० से १३ तक) में पंडित और रत्नसेन का शास्त्रार्थ इसी बात का है कि वेद बड़ा है या नाद और जायसी के प्रतिनिधि रत्नसेन ने नाद को वेद से बढ़कर सिद्ध किया है, जिससे यह स्पष्ट है कि जायसी की परम्परा दक्षिण मार्ग का नाम लेने पर भी मधुर शब्दों से वेद की जड़ खोदने में लगी हुई थी।

महात्मा बुद्ध के निर्वाण-लाभ से लगभग २५० वर्ष तक बौद्ध धर्म भारतीय अभिजात समाज में भी आदर प्राप्त करता रहा और अशोक के पुत्र महेन्द्र ने जम्बु-द्वीप के समीपवर्ती खंडों में इसका प्रचार करने के लिए सिंहल को अपना गढ़ बना लिया; अस्तु थेरा[1] तिष्य द्वारा नियोजित संगीति भारत में बौद्धधर्म की अन्तिम (तीसरी) धर्म-समिति थी, तदनन्तर केन्द्र सिंहल पहुँच गया और शेष दो संगीतियाँ वहीं हुईं। भार-तीय बौद्ध अब लंका को ही धर्मपीठ समझने लगे थे[2], धार्मिक दृष्टिकोण के कारण सिंहलद्वीप के विषय में उनकी कल्पना बड़ी अद्भुत थी। वे इसे धर्म तथा गुरु का केन्द्र स्वर्ग ही समझते थे[3]। कालान्तर में उत्तरी-पश्चिमी भारत का अनभिजात समाज भी बौद्ध धर्म को भूल गया परन्तु लंका, दक्षिण देश तथा पूर्वदेश (बंगाल, आसाम, बिहार, उड़ीसा, ब्रह्मदेश) के प्रति उसकी चमत्काराश्रित श्रद्धा बनी रही। उसका विश्वास था कि धर्म की सच्ची परीक्षा तो सिंहलद्वीप में ही होती है जहाँ की पद्मिनी कामिनियाँ धर्मोपासकों को अपनी कुटिल अलकों में फँसाकर एवं अपने चंचल अपांगों से बेधकर धर्म-च्युत कर देती हैं। बंगाल तथा कामरूप की मायाविनियों में मनुष्य को भेड़ा आदि बना देने की शक्ति तो आज भी मानी जाती है। बौद्ध धर्म ने जब दूसरा रूप धारण किया तो सिद्धिकामी पुरुष को एक ऐसी योगिनी की खोज में रहना पड़ा जो प्रयत्न-शील व्यक्ति के अहंकार को अपने आकर्षण के द्वारा चूर्ण कर दे[4] प्रायः उत्तर-पश्चिम के सिद्धकामी महाराष्ट्र, दक्षिण देश, पूर्वदेश तथा सिंहल तक ऐसी योगिनियों की खोज में पहुँच जाते थे और किसी भी (प्रायः नीच वर्ण की) कन्या में उनको अपने काम की

१. सद्धम्म संगह, पृ० ४२-४।

२. तब थेरा रेवत ने कहा—मित्र बुद्धघोष, जम्बूद्वीप में त्रिपिटक का केवल मूल रूप ही सुरक्षित है, उस पर टीका तथा आचार्यवाद यहाँ नहीं है, परन्तु सिंहलद्वीप में महेन्द्र द्वारा सिंहली भाषा में रची हुई सिंहली टीकाएँ सुरक्षित हैं। उनको सम्प्रदान कर और जाँचकर मगध की बोली में उनका अनुवाद कर लो।

(सद्धम्म संगह, पृ० ३१)

३. यू विल फाइण्ड, इन दि डिलाइटफुल आइलैंड आफ लंका, दि डिलाइटफुल रूप आफ दि मीनस्टर। (सद्धम्म संगह, पृ० ४७)

४. इस प्रकार महाराष्ट्र देश में उसको अपनी योगिनी एक [illegible] की पुत्री के रूप में मिली, जो उसकी अहंमूलक सत्ता के तत्व को [illegible] कर सकने की [illegible] ही [illegible] की पुत्री को [illegible] दो।

(मिस्टर टॅन्स आर [illegible] पृ० ८)

बीज मिल जाती थी। इन कामिनियों के मुद्रानाम पद्मावती, ज्ञानावती,[1] मन्त्रावती आदि रखे जाते थे और ऐसी कामिनी उस व्यक्ति की 'पद्मिनी' कहलाती थी[2], वह एक 'शक्ति' थी जिसको पूर्णतः प्राप्त करके सिद्धिकामी व्यक्ति 'शिव' बन जाता था, और फिर भूत-बेताल आदि से सेवा लेकर अनेक चमत्कार कर सकता था[3]। जैन-कथाओं में मदनावती, चन्द्रावती, यशोमती, शीलवती, कांतिमती, कीर्तिमती, पुष्पवती आदि नागरियों के तथा बौद्ध इतिहास में हंसावती, रामावती, धन्यावती, द्वारावती आदि[4] नगरियों के नाम पाये जाते हैं, इन नगरी-नागरी नामों में वही 'मतुप्' प्रत्यय का आग्रह है जो जायसी आदि के पद्मावती, नागमती, चम्पावती, कौलावती, चित्राव (चित्रवाली), पुष्पावती, कामवती, ज्ञानवती, इन्द्रावती, मृगावती आदि में ज्यों-का मिलता है। जायसी तथा उस्मान आदि सूफी कवियों ने दक्षिण देश की प्रशंसा की है[5], बगाल का यश गाया है[6], तिरहुत, जगन्नाथपुरी, गोरखपुर आदि के प्रति श्रद्धा दिखलाई है। इस प्रकार ये लोक-कथाएँ पात्रों के नाम, स्थानों के महत्त्व, मत की प्रतिष्ठा आदि के लिए अब्राह्मणों के प्रति ऋणी हैं, इनमें एक बात प्रायः पाई जाती है—पश्चिम के वर की पूर्व की कन्या से जोड़ी मिलना[7], और चित्र ऐसे समाज का है जिसकी दूसरे लोगों ने उपेक्षा कर दी थी।

बौद्धों ने साहित्य में इतनी रुचि न रखी थी जितनी कि जैनों ने, और जैनों का प्रयत्न अधिक ठोस था, वे प्राचीन इतिहास को भी अपने रंग में रंग लेना चाहते थे, प्राचीन कथाओं में उन्होंने ऐसा परिवर्तन किया कि घटनाओं से जैन-सिद्धान्तों की गंध आने लगी। वस्तुतः जैनों की इस प्रकार की कथाएँ अर्ध-ऐतिहासिक हैं, उनमें प्रमुख नाम तो प्रायः ऐतिहासिक ही हैं परन्तु घटनाओं में साम्प्रदायिक सिद्धान्तों का प्रति-पादन किया गया है[8]। रामायण की प्रसिद्ध कथा जैनों ने भी लिखी है, जिसमें पात्र तो सब वे ही हैं परन्तु कथानक में बड़ा परिवर्तन है, सीता मन्दोदरी के गर्भ से उत्पन्न रावण की पुत्री थी जिसके विषय में ज्योतिषियों ने यह बतलाया कि वह पिता के नाश का कारण बनेगी, रावण ने उससे छुटकारा पा लिया परन्तु जनक को वह हल जोतते

१. मिस्टिक टेल्स आफ लामा तारानाथ, पृ० ११ तथा २३।
२. वही, पृ० १६—यह उसकी पद्मिनी बन गई...।
३. वही, पृ० ३४ तथा ३७।
४. हिन्दू कॉलोनीज इन दि फार ईस्ट, पृ० १६६, १६७, २०२।
५. गुन निधान दक्खिन के गुनी। (चित्रा० पृ० २६)
६. पूरब अपुरुब देस बंगाला। (चित्रा०, पृ० १६१)
७. पच्छिउ कर बर पुरुब कै बारी। जोरी लिखी न होइ निनारी॥ (जा० ग्र० ११६)
८. दि जैन डिपार्टेड इन एवोल्विंग आल दियर रिलीजियस सर्मन्स फ्राम दि टीचिंग आफ दियर रिलीजियस ...; ... दि स्टोरी लिटरेचर एण्ड एक्सप्लोटेड दि इनहेरिटेड इंडियन ट्रेडिशन्स टुवर्ड्स दि ... स्टोरीज, रिलीजियस ... एण्ड पॉपुलर, ... दि लेटर फॉर ... जैन ... एण्ड दियर ...ज्यूगन टु इंडियन ... (प्राइम ...)